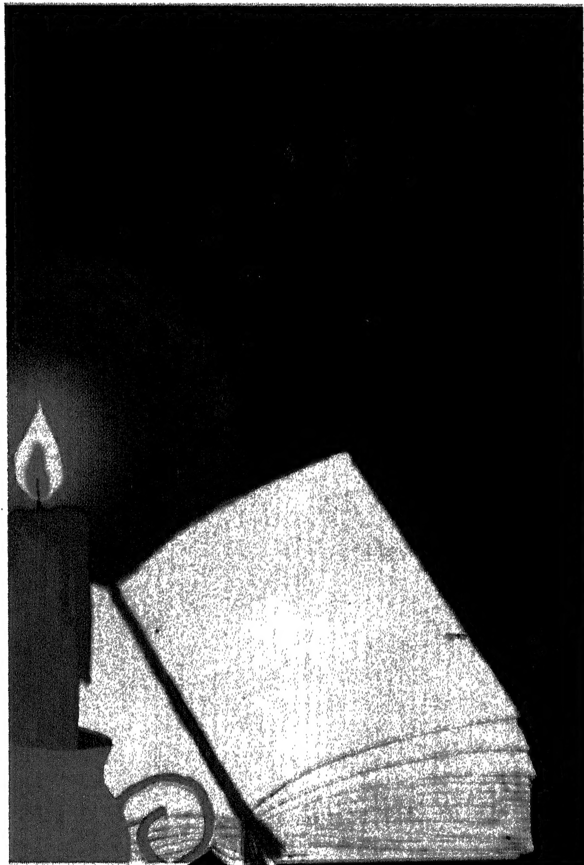
अपने समय में जीना



विनोद शर्मा

अपने समय में जीना

लेखक का साहित्य

काव्य संग्रह :

1. कविता एक खिड़की है (1980)।
2. मृगया (1990)।

बाल–साहित्य :

1. सागर एक खज़ाना (विज्ञान) 1994।
2. सात समन्दर पार से (यूरोप की परी लोक-कथाएं) 1994।
3. बुद्धू बालक की कथा (दृश्य-काव्य) 1996, (हिन्दी अकादमी से पुरस्कृत)।
4. बूझो तो जानें (बाल-काव्य-संग्रह) 1999, (हिन्दी अकादमी से पुरस्कृत)।

अनुवाद :

1. है-नहीं है : (1980) बल्गारियाई कवयित्री लिल्याना स्तेफानोवा की कविताएं।
2. अग्निपरीक्षा और अन्य कविताएं (1989)–बीसवीं शताब्दी की बल्गारियाई कविता।
3. जन्मभूमि और अन्य कविताएं (1979)–बल्गारियाई कवि निकोला वप्त्सारोव की कविताएं।
4. भूमि जो है नहीं (1980)–फिनलैण्ड की कविताएं।
5. इतालवी कविता (1981)।
6. तुर्की कविता (1982)।
7. यूनानी कविता–(1985)।
8. अनुपस्थिति का देश और अन्य कविताएं (1988)–1945 की नोबेल रत्न, चिली की कवयित्री गब्रिएला मिस्त्राल की कविताएं।

नोट–सं. 3 से 8 पर अंकित संग्रहों की अधिसंख्य कविताओं के अनुवाद इस कवि ने किए हैं।

 **शिलालेख, दिल्ली-110032**

अपने समय में जीना

विनोद शर्मा

प्रथम संस्करण : 2001

मूल्य : 140.00

प्रकाशक : **शिलालेख**
4/32, सुभाष गली, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

शब्द-संयोजक : मयंक लेजर प्रिंटर्स, दिल्ली

मुद्रक : आर. के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

APNE SAMAY MEIN JEENA by Vinod Sharma

उनके लिए
जो मानते हैं कि—
गद्यं कवीनां निकषं वदंति

भूमिका

भूमिका लिखने बैठा तो कुछ सूझ नहीं रहा था। पांडुलिपि में संकलित सामग्री पर नजर दौड़ाई तो कई विचार आने-जाने लगे। विचारों के आवागमन के दौरान प्रसिद्ध हंगारी कवि शांदोर वरेश की कविता 'अभी कई बातें' सहसा स्मृति में कौंधी—

अभी तो कहने को कई बातें शेष हैं
घटनाएं जिन्हें हमने जिया
बातें जो हमने सीखीं/वस्तुएं जिन्हें हमने देखा
और मुलाकातें जो कई बार हुईं और वे जो हुईं सिर्फ एक बार

हर फूल इंतजार कर रहा है अपना जिक्र किए जाने का
हर मुट्ठीभर धूल इस लायक है कि उस पर ध्यान दिया जाए
मगर जब इन पर कुछ कहने का मौका आएगा इनमें से सिर्फ एक
और उस एक के भी कुछ टुकड़े ही समा पाएंगे कहने में

जहां तक स्मृतियों का सवाल है मनुष्य करोड़पति होता है
मगर जब उन्हें कलमबन्द करने का वक्त आता है तो
वह पाता है खुद को कंगाल
लगभग हर चीज किताब के बाहर छूट जाती है
और अन्दर रह जाते हैं चंद टुकड़े और स्वप्न।

सो, प्रिय पाठको! पिछले 25 वर्षों में जो थोड़ा बहुत मैं गद्य में कह सकता था सो मैंने इस पुस्तक में कह दिया है और जो बहुत कुछ मैं नहीं कह पाया उसे फिर कभी किसी दूसरी पुस्तक में कहने का प्रयत्न करूंगा।

नई दिल्ली

—विनोद शर्मा

अनुक्रम

1. कवि और कवितानुवाद–I 9
2. कवि और कवितानुवाद–II 17
3. खेल जारी है 33
4. मैं कविता क्यों लिखता हूं? 36
5. ब्रह्मराक्षस और मुक्तिप्रसंग 40
6. द्वीप नहीं थे अब्बास साहब 43
7. शब्द की यात्रा : पड़ाव और चुनौतियां 49
8. गीत की प्रासंगिकता 53
9. दो कविता-पीढ़ियों का साक्षात्कार 59
10. ढाई अक्षरों की कविता 68
11. मैं अपने समय में जीना चाहता हूं 75
12. साहित्य की सांस्कृतिक यात्रा 84
13. कविता की सांस्कृतिक यात्रा 88
14. जिजीविषा की नदी और कविता का पुल 93
15. पुरस्कार और पूर्वग्रह 98
16. किसी के न होने की कविता 106
17. साहित्य के प्रथम नोबेल रत्न : सुइली प्रूइदौम 110
18. अस्तित्व की अनिवार्यता की कविता 112
19. कविता : जिंदगी के प्रश्नों का उत्तर 116
20. बड़ी क्रूर थी बीसवीं शताब्दी 121
21. एलकी वादी का विलाप 124
22. कवि ऐसा विदूषक है जो लिखता है 128
23. कविता की नई दुनिया की खोज 134
24. आड़ूचोर 136
25. जीने के हक का परचम 139
26. रिल्के पत्रों में 143
27. कविता का पुनर्जन्म 148

कवि और कवितानुवाद–I

मौलिक कविता और अनूदित कविता की रचना प्रक्रिया में बुनियादी तौर पर कोई फर्क नहीं होता। दरअसल मौलिक कविता भी कवि के अनुभव (कवितानुभव) का, अनुभव की भाषा से कविता की भाषा में रूपान्तर ही होता है। मौलिक कविता को 'रचना' और उसके रूपान्तर को 'पुनर्रचना' कह कर हम केवल 'अर्जित अनुभव' और 'आयातित/गृहीत अनुभव' के फर्क को ही रेखांकित करते हैं। अनुभव की समझ और अभिव्यक्ति की अनुकूल भाषा की ताकत के बिना अच्छी कविता की रचना ही नहीं बल्कि अच्छी कविता का सही अनुवाद करना भी असम्भव है।

कविता की समझ का, अनुभव की समझ और भाषा की समझ से गहरा रिश्ता है। सच तो यह है कि भाषा की समझ भी अन्ततः अनुभव की समझ से ही जुड़ती है। अनुभव की समझ से मेरा आशय व्यक्ति के और कवि के, दोनों अनुभवों की समझ से है। व्यक्ति सिर्फ व्यक्ति होता है अतः उसके पास सिर्फ व्यक्ति का अनुभव होता है। जबकि कवि व्यक्ति तो होता ही है, कवि भी होता है अतः उसके पास व्यक्ति एवं कवि दोनों के अनुभव होते हैं। यथार्थ के, व्यक्ति के अनुभव में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया की तुलना लोहे के गोले के दीवार से टकराने की प्रक्रिया से की जा सकती है। व्यक्ति, यथार्थ से टकराता है, एक धमाका होता है और टकराव व्यक्ति के व्यक्तित्व में शामिल हो जाता है अर्थात् उसका अनुभव बन जाता है। मगर, कवि को अपने व्यक्ति के अनुभव को कविता के माध्यम से पाठक तक पहुंचाना भी होता है। इसलिए, यथार्थ के, कवि के अनुभव (कवितानुभव) में रूपांतरित होने की प्रक्रिया (कविता की रचना प्रक्रिया) को समझने के लिए, रबड़ की गेंद के दीवार से टकराने और लौटने की घटना की कल्पना करनी होगी। जितनी तेजी से (कवि का) व्यक्ति यथार्थ से टकराता है उतनी ही (कम या ज्यादा भी) तेजी से (व्यक्ति का) कवि, कविता के जरिए पाठक तक पहुंचता है। कवि के व्यक्ति का अनुभव (यथार्थ से टकराव) कविता में, उसके अनुभव (टकराव की प्रतिक्रिया) अर्थात् कवितानुभव के रूप में व्यक्त होता है। कविता चूंकि कवितानुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति है और भाषा केवल माध्यम भर है इसलिये कविता केवल शब्द/विश्व कोष की मदद से नहीं समझी जा सकती। वस्तुतः न तो भाषा सीखी जाती है और न कविता पढ़ी या सुनी—दोनों अनुभव की जाती हैं। यही वजह है कि कवि सहृदय श्रोता/पाठक की कामना करता है। आदर्श (सहृदय) पाठक/श्रोता कवि

के समान संवेदनशील, कल्पनाशील और भाषा एवं अनुभव सम्पन्न होता है तथा कवितानुभव के जरिए कवि के व्यक्ति के अनुभव तक पहुंचने की सामर्थ्य (कविता की समझ) रखता है। जाहिर है कि वह कविता को समझने की कोशिश में समझ के संकट से उबरने की कोशिश करता है और उसकी सफलता (पाठक के रूप में) उक्त कोशिश की सफलता पर निर्भर होती है। समझ के संकट से कवि भी जूझता है। व्यक्ति के अनुभव को समझे बगैर उसे कवितानुभव में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। कविता में उभरने वाली स्पष्टता व्यक्ति के अनुभव को कवितानुभव में बदलने यानी कि व्यक्ति के अनुभव को समझ पाने की, कवि की योग्यता पर निर्भर होती है। कवि सृजन के क्षणों में समझ के संकट के साथ-साथ, अभिव्यक्ति के संकट से भी उबरने की कोशिश करता है क्योंकि कवितानुभव, भाषा के जरिए ही पाठक/श्रोता तक पहुंचाया जा सकता है। कवि की कृति का स्तर उक्त प्रयास की सफलता पर निर्भर होता है। इस प्रयास में उसकी कारयित्री प्रतिभा संघर्ष के दौर से गुजरती है। मानसिक और बौद्धिक स्तरों पर चल रहे रचनात्मक संघर्ष के उक्त दौर से उसके (कवि के) गुजरने की प्रक्रिया को ही रचना प्रक्रिया कहा जाता है।

कवितानुवाद को डॉ. सैम्युअल जान्सन (अंग्रेजी भाषा के सर्वप्रथम शब्द कोश के सम्पादक) की तरह मैं असंभव तो नहीं किन्तु कठिन कार्य जरूर मानता हूं। इसका यह मतलब भी नहीं कि प्रत्येक कविता अनुवाद्य होती है। अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूँ कि अनुवादक कभी-कभी ऐसे मोड़ पर पहुंच जाता है कि उसे समूची कविता या उसकी एक खास पंक्ति अननुवादिता (अनट्रांसलेटेबिलिटी) के दायरे की सामग्री नजर आती है। तकनीकी शब्दावली में, अनुवाद के संदर्भ में, मूल रचना की भाषा को स्रोत भाषा (सोर्स-लैंग्वेज) और रूपान्तरण की भाषा को लक्ष्य (टारगेट) भाषा कहा जाता है (संदर्भ : ए लिंग्विस्टिक थियोरी आव ट्रांसलेशन : जे. सी. कैटफोर्ड)। इसी दिशा में थोड़ा और आगे बढ़ा जाय तो मूल कविता को स्रोत (सोर्स) कविता और उसके रूपान्तर को लक्ष्य (टारगेट) कविता कहा जा सकता है। मैं कवितानुवाद को लक्ष्य भाषा में समान्तर कविता की रचना की सृजनात्मक कोशिश का दर्जा देता हूं। कुछ लोगों का ख्याल है कि अनुवादक पकी पकाई रोटी खाता है और इसीलिए वे कवितानुवाद को रचनात्मकता की दृष्टि से कोई अहमियत नहीं देते। इन लोगों का उक्त रवैया कविता को जानने, समझने और महसूस करने के फर्क को न समझ पाने की अक्षमता और कवितानुवाद के क्षेत्र की उनकी अनुभवहीनता को ही रेखांकित करता है। कवितानुवाद की रचना प्रक्रिया की गहरी जांच-पड़ताल हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचा देती है कि स्वयं पका कर और पकी-पकाई रोटी खाने का फर्क कवितानुवाद के संदर्भ में नगण्य होता है। वे जो यह मानते हैं कि भाषा और कविता अनुभव नहीं बल्कि शब्दकोश की मदद से समझी जाती हैं, कवितानुवाद को पकी-पकाई रोटी खाने की सुविधा से जोड़ते हैं। कवितानुवाद की निम्नलिखित दो शर्तों का पालन, मैं अनुवादक के लिए जरूरी समझता हूं—(1) स्रोत और लक्ष्य भाषाओं के बीच समानार्थकता की

खोज, (2) मूल रचनाकार की शैली का अनुकरण। पहली शर्त कविता के अनुवादक से अनुभव की समझ की मांग करती है। इसके लिए जरूरी है कि वह स्रोत कविता में व्यक्त कवितानुभव को समझकर मूल रचनाकार के व्यक्ति के अनुभव तक पहुंचे, फिर उसे ग्रहण करे अर्थात् अपने व्यक्तिगत अनुभव में बदले और तत्पश्चात उसे लक्ष्य कविता की रचना सामग्री (कवितानुभव) में बदले। स्रोत कविता में व्यक्त अनुभव को अनुवादक यदि अपना अनुभव नहीं बना पाता यानि कि 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में नहीं बदल पाता तो स्रोत और लक्ष्य भाषाओं के बीच समानार्थकता की खोज में वह नितान्त असफल रहेगा। परिणामतः लक्ष्य कविता में वह रचनाकार का अनुभव विकृत रूप में पेश करेगा। उक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि कवितानुवादक के लिए अनुवादक ही नहीं कवि होना भी जरूरी है अन्यथा वह व्यक्ति के अनुभव को कवितानुभव में नहीं बदल पाएगा। सिद्ध अनुवादक अपनी ओर से मूल रचना में न तो कुछ जोड़ता है और न कुछ घटाता ही है।

मूल रचनाकार यदि समझ के संकट से उबर नहीं पाता अर्थात अपने व्यक्ति के अनुभव को कवितानुभव में नहीं बदल पाता तो उसकी रचना प्रभावशाली नहीं हो सकती। उसी तरह अगर रूपांतरकार स्रोत कविता में व्यक्त अनुभव को आयात/ग्रहण करके अपना अनुभव नहीं बना पाता, यानी अर्जित अनुभव में नहीं बदल पाता, तो उसकी पुनर्रचना सही एवं प्रभावशाली नहीं हो सकती। रचनात्मक ईमानदारी, अपेक्षित श्रम और भाषा की समझ के अभाव में अनुवादक अक्सर उक्त कमजोरी का शिकार हो जाता है। कई बार मौलिक कविता रचते वक्त भी कवि 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने की रचनात्मक कशमकश की प्रक्रिया से गुजरता है। मज़दूरिन की हताशा से लेकर क्रांतिधर्मी आस्था तक को व्यक्त करने वाली कविता की पहली पंक्ति रचने से पहले निराला 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने की प्रक्रिया से गुजर चुके थे। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि साल-दर-साल पत्थर तोड़ने वाली मज़दूरनी के भोगे हुए यथार्थ को निराला ने वास्तविक जिंदगी में स्वयं तो कभी नहीं भोगा, लेकिन उनके कवि ने, संवेदनशीलता के माध्यम से उसे मानसिक/बौद्धिक स्तर पर निश्चित रूप से भोगा अर्थात निराला ने मज़दूरनी के अनुभव को अपना, नितान्त निजी अनुभव बनाया। अतः यह कहा जा सकता है कि मूल रचनाकार 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने की प्रक्रिया से हमेशा नहीं गुजरता जबकि अनुवादक को हर बार गुजरना पड़ता है। एक बात और। 'वह तोड़ती पत्थर' में व्यक्त अनुभव को निराला ने मज़दूरनी से आयात किया था लेकिन अनुवादक को इसी अनुभव को निराला की कविता से ग्रहण करना पड़ेगा। क्या अनुभव के आयात के स्रोत का अन्तर रचना और पुनर्रचना की रचना प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है? मैं कहूंगा, कतई नहीं। कई बार ऐसा भी होता है कि अनुवादक स्रोत भाषा नहीं जानता और मूल रचना के अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा में किए गए अनुवाद के माध्यम से अपनी भाषा में लक्ष्य कविता की रचना करता है। इस दोहरी

अनुवाद प्रक्रिया में मूल कविता के नष्ट होने की संभावना रहती है क्योंकि मूल रचनाकार के अनुभव तक पहुंचने का रास्ता लम्बा और दूरूह हो जाता है। यों काव्यानुभव-सम्पन्न अनुवादक हर प्रकार की कठिनाइयों का हल खोज लेता है, बशर्ते कि कविता अनुवाद्य हो। सांस्कृतिक संदर्भों से भरी कविता की बात दूसरी है। इस संदर्भ में मैं यह भी कहना चाहूंगा कि अगर एक मज़दूरनी से अनुभव आयात करके श्रेष्ठ कविता की रचना की जा सकती है तो किसी कविता में व्यक्त अनुभव को उसके अनुवाद के माध्यम से ग्रहण करके सही अनुवाद क्यों नहीं किया जा सकता? संवेदनशीलता, कल्पनाशीलता, काव्यानुभव और श्रम के अभाव में तो किसी कविता के रूपांतर से ही क्या, समूची जिंदगी से भी अनुभव आयात नहीं किया जा सकता।

कवितानुभव अर्जित करने के बाद रचनाकार को उपयुक्त भाषा की तलाश करके कथ्यानुकूल शिल्प गढ़ना अर्थात अभिव्यक्ति के संकट से निबटना होता है। जाहिर है कि रचना प्रक्रिया के उत्तरार्द्ध में मूल रचनाकार और रूपांतरकार दोनों एक से रचनात्मक संघर्ष और मिलती-जुलती समस्याओं से जूझते हैं। रचना प्रक्रिया से जुड़े रचनात्मक संघर्ष को आधार बनाकर/मानकर, सहज (स्पौन्टेनियस) और यत्नसिद्ध (लेबड)/सायास लिखी गई कविताओं के 'फर्क' को समझा जा सकता है। सृजन के क्षणों में कवि को अगर रचनात्मक संघर्ष करना पड़ता है, दूसरे शब्दों में बकौल मुक्तिबोध, ब्रह्मराक्षस की तरह अभिशप्त रहने की नियति भोगनी पड़ती है तो परिणामी कविता 'यत्नसिद्ध' कहलाती है, इसके विपरीत यदि उसे महसूस होता है कि कविता वह नहीं लिख रहा बल्कि खुद-ब-खुद लिखी जा रही है और उसे तनिक भी मेहनत नहीं करनी पड़ रही है तो परिणामी कविता 'सहज' कहलाती है। कविताभ्यास अकसर कवि को ऐसे मोड़ पर पहुँचा देता है कि वह सिद्धावस्था/ट्रांस में कविता लिखने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कवि का अवचेतन एक खास अनुभव ग्रहण करता है और उसे अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है। यह कोशिश काफी लम्बे समय तक चलती रहती है। एक समय आता है जब कविता गर्भस्थ शिशु की तरह जन्म लेने के लिए तैयार हो जाती है। फलतः रचनात्मक ऊर्जा की एक लहर कवि के मन में उठती है और अनायास ही बेहद कम समय में एक नई कविता उससे रची जाती है। राइनर मारीया रिल्के के दस विश्वविख्यात शोकगीतों (Duino Elegies) में से पहले दो की रचना को जे. बी. लीशमान अन्तःप्रेरणा के आकस्मिक प्रवाह से जोड़ते हैं। मूल कविता यत्न-सिद्ध भी होती है और सहज भी, लेकिन अनूदित कविता तो यत्नसिद्ध ही होती है क्योंकि अनुवादक को स्रोत कविता की शैली और लक्ष्य भाषा के व्याकरण और मुहावरे में संतुलन स्थापित करना पड़ता है।

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में विदेशी भाषाओं की कविताओं के अनुवाद करने की परम्परा तेजी से विकसित हुई है। दुर्भाग्य से अधिकांश अनुवाद, अनुवादकों की समझ एवं अभिव्यक्ति के संकटों से न उबर पाने की अक्षमता को ही रेखांकित

कर पाए हैं—'माच्चू पिच्चू के शिखर' (पहल द्वारा प्रस्तुतः जनवादी साहित्य सीरीज-संख्या-1 में नीलाभ ने उक्त बिन्दु पर पर्याप्त रोशनी डाली है। मैं इस संदर्भ में प्रख्यात रूसी कवि वॉज्नेसेंस्की की प्रसिद्ध कविता, मैं गोया हूँ, के अंग्रेजी और हिन्दी अनुवादों का उल्लेख करना चाहूंगा। स्टैनली कुनिट्ज कृत अंग्रेजी अनुवाद : I am Goya को पढ़ते वक्त आप भूल जाइए कि आप किसी रूसी कविता (स्रोत कविता) का अंग्रेजी रूपांतर (लक्ष्य कविता) पढ़ रहे हैं, आपको लगेगा कि आप अंग्रेजी की सशक्त युद्ध कविता पढ़ रहे हैं—

I am Goya of the bare field, by the enemy's beak gouged till the craters of my eyes gape

I am grief

I am the tongue of war, the embers of cities, on the snows of the year 1941

I am hunger

I am the gullet of a woman hanged whose body like a bell tolled over a blank square

I am Goya

O grapes of wrath! I have hurled westward the ashes of the uninvited guest! and hammered stars into the unforgetting sky—like nails

I am Goya

'फैसले का दिन' में संग्रहीत, अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर श्रीकान्त वर्मा द्वारा तैयार किया गया वॉज्नेसेंस्की की कविता का हिन्दी प्रारूप, हमें यह बताता है कि पुनर्रचना में स्रोत कविता कैसे नष्ट होती है—

मैं गोया हूं / बर्बर युद्ध क्षेत्र का / जब तक दुश्मन की नोकीली चोंच / मेरी आँखों को चीथ कर / बाहर कर दे / तब तक

मैं दुःख हूं।

मैं युद्धोन्मुख हूं/41 के बर्फीले अन्धड़ में/बुझे जा रहे अंगारों से/नगर/मैं भूख हूं।

मैं उस औरत की / गरदन हूं / सूली पर लटकती जाकर / सूने चौरस्ते/ जिसका शव / घंटे जैसा झूल रहा है

मैं गोया हूं।

ओ शापों की वर्षा! घुस आए मेहमानों के अवशेष / फेंककर अस्ताचल में / ठोंक दिये मैंने। हरदम आसमान पर तारे—जैसे कील

मैं गोया हूं।

कुनिट्ज और श्रीकान्त की पुनर्रचनाओं की तुलना करते ही श्रीकान्त वर्मा की पुनर्रचना (?) की खामियां उजागर हो जाती हैं। अंग्रेजी प्रारूप (स्रोत कविता) का एक महत्त्वपूर्ण शब्द : Gouged, हिन्दी प्रारूप (लक्ष्य कविता) से गायब है। परिणामतः लक्ष्य

कविता का पहला बन्द अधूरा प्रतीत होता है। दूसरे बन्द में स्रोत कविता की पंक्ति : I am the tongue of war, 'मैं युद्धोन्मुख हूं' में कैसे बदल दी गई, यह समझना बेहद कठिन है। लक्ष्य कविता में दूसरा बन्द विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। तीसरे बन्द में, स्रोत कविता का शब्द : Tolled, लक्ष्य कविता में 'घंटे जैसा झूल रहा है' में परिवर्तित होकर बेमानी हो गया है। Toll अर्थात् घनघनाने की ध्वनि पश्चिमी (ईसाई) देशों में मौत की अशुभ सूचना देती है। लक्ष्य कविता में यह प्रतीकात्मकता तो नष्ट हुई ही है, भूत एवं वर्तमान का कालभेद भी नष्ट हुआ है। 'घनघनाती रही' और 'घंटे जैसा झूल रहा है' के बुनियादी फर्क को श्रीकान्त वर्मा कतई नहीं समझ पाए। दरअसल श्रीकान्त उक्त अनुवाद के संदर्भ में समझ और अभिव्यक्ति के संकटों से उबर पाने की कोशिश में नितान्त असफल रहे। नीलाभ ने भी श्रीकान्त की विवेच्य पुनर्रचना की 'माच्चू पिच्चू के शिखर' के परिशिष्ट में जांच-पड़ताल की है और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विवेच्य में श्रम, रचनात्मक ईमानदारी, मूल रचना की समझ और मूल रचनाकार के मन्तव्य को पाठकों तक सच्चाई से पहुंचाने की अभिव्यक्तिगत क्षमता का अभाव है।

नीलाभ ने श्रीकान्त की पुनर्रचना को सुधारकर वॉज्नेसेंस्की की कविता का एक और हिन्दी रूपांतर किया—

मैं गोया हूं! बुच्चे मैदान का, दुश्मन की नुकीली चोंच से यूं नुचा हुआ कि फट पड़ी हैं मेरी आंखें अपने कोटरों से

मैं दुःख हूं।

मैं युद्ध की ज़बान हूं / मैं हूं नगरों के अंगार / सन् इकतालीस की बर्फों पर/मैं भूख हूं।

मैं गला हूं / फांसी चढ़ी मुटियार का / जिसकी लाश घनघनाती रही सूने चौक में / घंटे की तरह

मैं गोया हूं।

ओ प्रतिशोध की बौछार। मैंने फेंक मारी है पश्चिम की ओर / अनाहूत अतिथि की राख / और ठोंक दिए हैं सदा-स्मरणशील आकाश में/कीलों की तरह—तारे

मैं गोया हूं।

इसमें कोई शक नहीं कि नीलाभ की पुनर्रचना श्रीकान्त की पुनर्रचना से बेहतर है। 'माच्चू पिच्चू के शिखर' में नीलाभ नें स्वीकार किया है कि वॉज्नेसेंस्की की कविता उन्होंने दो अंग्रेजी रूपांतरों और रूसी हिन्दी शब्दकोश की मदद से अनूदित की। मूल कविता को समझने में ज्यादा मेहनत करने की वजह से ही वे वॉज्नेसेंस्की के आशय को समझने एवं पाठकों तक लक्ष्य कविता के जरिए पहुंचाने में श्रीकान्त से ज्यादा सफल रहे। श्रीकान्त मेहनत से कतराते रहे, इसलिए उनकी पुनर्रचना मूल कविता को विकृत रूप में प्रस्तुत करती है। कुनिट्ज की पुनर्रचना को नीलाभ की पुनर्रचना से तुलना करते हुए मुझे महसूस हुआ कि दूसरे बन्द में नीलाभ

असावधान नजर आते हैं। इसके अतिरिक्त पहले बन्द को नीलाभ कुछ और ज्यादा कसकर अधिक प्रभावशाली बना सकते थे। तीसरे बन्द में 'औरत' के बजाय 'मुटियार' शब्द के चयन की निरर्थकता और चौथे बन्द में 'सदा-स्मरणशील' में निहित गद्यात्मकता उन्हें क्यों नहीं अखरी—यह भी मैं नहीं समझ पाया। परिणामतः मैंने भी वॉज्नेसेंस्की की युद्ध कविता हिंदी में रूपांतरित करने की जरूरत महसूस की। "ए लिंग्विस्टिक थियोरी आव ट्रांसलेशन" नामक ग्रन्थ के रचयिता, अनुवाद की वैज्ञानिक तकनीक, उसके सर्जनात्मक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों के अधिकारी विद्वान, मिशिगन विश्वविद्यालय के विख्यात भाषा वैज्ञानिक, प्रोफेसर जे. सी. कैटफोर्ड के अनुसार अनुवाद के दो मुख्य रूप हैं—(1) शाब्दिक अनुवाद और (2) मुक्त अनुवाद। आदर्श अनुवाद की स्थिति इन दोनों के बीच में है। वॉज्नेसेंस्की की कविता का अनुवाद करते वक्त मेरा ध्यान उक्त आदर्श पर केन्द्रित रहा है। कुनिट्ज कृत अनुवाद के अन्तिम बन्द के अंग्रेजी शब्द Unforgetting को अपनी पुनर्रचना में हिन्दी के समानार्थक शब्द 'स्मरणशील' के बजाय समानार्थक प्रभाव के संवाहक शब्द : आक्रान्त, से विस्थापित करके मैं पाठक को मूलार्थ से तो कुछ दूर अवश्य ले गया हूँ मगर संदर्भगत परिवेश से नहीं। युद्ध का चश्मदीद गवाह 'आकाश' नाजी फौजों की बर्बरता और तज्जन्य विनाश को कैसे भुला सकता है—यह संकेत 'Unforgetting' शब्द में निहित है। जाहिर है कि वह (आकाश) स्तंभित/आक्रान्त होगा। कवि स्वयं भी आक्रान्त है और भय से मुक्ति पाने और अपने आक्रोश को अभिव्यक्त करने के लिए ही वह प्रत्यक्षतः आसमान में और परोक्षतः नाजियों के ताबूत में कीलें ठोंकने का दावा करता है।

स्टैनली कुनिट्ज की अंग्रेजी पुनर्रचना के साथ श्रीकान्त, नीलाभ और मेरी हिन्दी पुनर्रचनाओं की तुलना, अनुवाद संबंधी दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण जानकारी पाठक तक पहुँचाएगी ही, मूल कविता को समझने में भी सहायक सिद्ध होगी। मुझे यकीन है कि मेरे प्रयास को, पुनर्रचना की रचना प्रक्रिया को समझने की कोशिश की रोशनी में देख सकने में पाठक कामयाब होगा। मैं उसका ध्यान इस तथ्य की ओर भी खींचना चाहूँगा कि मौलिक कविता रचते वक्त 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने (दूसरे शब्दों में रूपांतरण) की प्रक्रिया से गुजरने की कोशिश के संदर्भ में भी वॉज्नेसेंस्की की कविता 'मैं गोया हूँ", को देखने का प्रयत्न मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। बमों की मार से युद्ध क्षेत्र में पड़े हुए गढ़ों को देखकर वॉज्नेसेंस्की को लाश की आँखों को नोचते गिद्धों का ख्याल आया होगा, कविता की आरम्भिक पंक्तियों में प्रस्तुत बिम्ब मेरे इस अनुमान का समर्थन करता है। युद्ध की विभीषिका के चित्रण के लिए विख्यात स्पेनी चित्रकार गोया भी वॉज्नेसेंस्को की स्मृति में तो बसा हुआ था ही, उसके लिए युद्ध का प्रतीक भी बन चुका था (माच्चू पिच्चू के शिखर)। युद्धक्षेत्र और लाश की भयावह स्थिति / नियति को संवेदनशील व्यक्ति के अनुभव और गोया के चित्रों

में व्यक्त भयावहता को कवितानुभव में बदलने की प्रक्रिया में, कल्पना, स्मृति और संवेदनशीलता से उनकी कारयित्री प्रतिभा ने कितनी निपुणता से काम लिया—इसका अन्दाजा उनकी कविता के स्टैनली कुनिट्ज कृत अंग्रेजी अनुवाद और नीचे दी गई मेरी हिन्दी पुनर्रचना पढ़कर सहज ही लगाया जा सकता है—

मैं गोया हूं / नंगे मैदान का / कोटरों से आंखों के / फट पड़ने तक / दुश्मन की चोंच से / नोचा गया हूं / मैं दुःख हूं।

मैं जुबान हूं / युद्ध की / सन् इकतालीस की / बर्फ पर बिखरे हुए / शहरों के अंगारों की / मैं भूख हूं

मैं गर्दन हूं / फांसी चढ़ी औरत की / घनघनाती रही / जिसकी लाश / सूने चौक में घंटे की तरह / मैं गोया हूँ

ओ प्रतिशोध की बौछार! उछाल दी है मैंने / पश्चिम की ओर / अनाहूत मेहमानों की राख और कीलों की तरह/ ठोंक दिए हैं तारे/ आक्रांत आकाश में / मैं गोया हूं।

कवि और कवितानुवाद—II

आम आदमी के शोषण और दमन की त्रासदी ढोती हुई समकालीन दुनिया में, मानवीय अधिकारों और मूल्यों की रक्षा की खातिर कविता के ज़रिए लड़ना, कवि के अस्तित्व की बुनियादी शर्त है। सांस्कृतिक संदेश और आम आदमी की आवाज़ के रूप में मोंताले, नेरूदा और ब्रेख्त की कविता की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति, आधुनिक युग में कवि के मानवीय मूल्यों और अधिकारों के प्रवक्ता और प्रतिरक्षक होने की नियति और उसकी भूमिका के महत्त्व को रेखांकित करती है। इस भूमिका से कतराने का अर्थ अप्रासंगिकता के मलबे के नीचे दफन होने के अतिरिक्त हो भी क्या सकता है? मनुष्य की तकलीफ़ की सार्वभौमिकता के कारण आधुनिक कवि के संघर्ष का चरित्र अन्तर्राष्ट्रीय है और उसकी दुनिया उतनी ही अन्तर्राष्ट्रीय है जितनी किसी वैज्ञानिक या दार्शनिक की। इसके बावजूद कवि कर्म की सार्थकता की जांच, अक्सर भाषाई साम्प्रदायिकता की शिकार होकर रह जाती है। कविता के तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा भी इस साम्प्रदायिकता को खत्म नहीं कर पाई। विश्व कविता की परिकल्पना से भी कोई हल निकलता प्रतीत नहीं होता। हां! भाषिक और भौगोलिक सीमाओं को नज़रअन्दाज़ कर केवल आधुनिक कविता या समकालीन कविता की बात की जाए तो बात बन सकती है। अगर आधुनिक अंतरिक्ष विज्ञान के विद्यार्थी के लिए समकालीन दुनिया की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण या नवीनतम अंतरिक्षीय खोज (जो जरूरी नहीं कि हिन्दी के जानकार किसी हिन्दुस्तानी ने ही की हो) से परिचित होना जरूरी है तो आधुनिक कविता के अध्येता के लिए मानवीय मूल्यों और अधिकारों की खातिर कविता के जरिए लड़ी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण या नवीनतम लड़ाई (जो जरूरी नहीं कि हिन्दुस्तान में ही लड़ी गई हो, मसलन, नस्लवादी गोरी सरकार के खिलाफ़ अथवा फिलीस्तीनी मुक्ति संघर्ष के समर्थन में लिखी गई कविता) में भागीदार होना भी जरूरी है, मगर जिस तरह अंतिरक्ष विज्ञान के समूचे इतिहास को जाने बगैर विज्ञान की इस आधुनिकतम शाखा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अथवा नवीनतम खोज और उसके महत्त्व को समझ पाना असम्भव है, ठीक उसी तरह आधुनिक कविता की नवीनतम या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि और उसके महत्त्व को समझने के लिए दुनिया भर की महत्त्वपूर्ण

(सभी) भाषाओं में रची गई क्लासिकी और आधुनिक कविता, उससे जुड़े आन्दोलनों और इतिहास से परिचित होना भी जरूरी है और हुआ भी जा सकता है बशर्ते दुनिया की सभी (महत्त्वपूर्ण) भाषाएं सीखी जायें, जो संभव नहीं। विकल्प अनुवाद में मौजूद है। इसमें कोई शक नहीं कि अनुवादक दो भाषाओं के बीच पुल की भूमिका तो अदा करता ही है, दो संस्कृतियों के बीच साक्षात्कार का माध्यम भी बनता है और उसकी इसी दोहरी भूमिका के कारण ही कालिदास, होमर, शेक्सपियर, दान्ते, गेटे, उमर खैयाम, टैगोर आदि कवियों की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति संभव हो सकी। युवा कवियों के लिए कवितानुवाद का अर्थ अभिव्यक्ति की तलाश से भी जुड़ता है। यदि अनुवादक मूल रचनाकार के अनुभव का स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में अनुवाद करता है तो कवि अपने अनुभव का, अनुभव की भाषा से कविता की भाषा में अनुवाद करता है। अतः दोनों की समस्याएं समझ और अभिव्यक्ति के संकटों से उबारने की क्षमताओं से जुड़ी हुई हैं।

जिस प्रकार अपने से बेहतर खिलाड़ी से खेलकर युवा खिलाड़ी के खेल में सुधार आता है, उसी प्रकार रिल्के, मोंताले, इलियट जैसे महान कवियों की कविताओं के अनुवाद के जरिए, युवा कवि की समझ और अभिव्यक्ति के संकटों से उबरने की क्षमता में अभिवृद्धि होती है। परिणामतः उसकी कविता निखरती चली जाती है। सम्भवतः यही वजह है कि आधुनिक कवि अनुवाद को अपनी रचना प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। कवितानुवाद में कवि के झुकाव का सम्बन्ध धर्मवीर भारती समानधर्मा कृतित्व की खोज से जोड़ते हैं (पृष्ठ 6 : वक्तव्यः देशान्तर)।

पश्चिम में एजरा पाउंड, राबर्ट लोवेल (अमेरिका), बोरिस पास्तरनाक (रूस), अलेक्सांद्र वात, चेसवैफ मीवॉश (पोलैंड), अन्तोनिन बार्तूसेक, जोजफ हैन्जलिक, वितेजलाव नेजवेल (चेक गणराज्य), पॉल सेलान (जर्मनी) निकोसकजल्तजेकिस (यूनान), गार्वी गाबोर, बेन्जामिन लेजलो (हंगरी), यूजेन्यो मोंतले (इटली) एलिजावेथा बाग्रयाना (बल्गारिया) आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कवियों ने विदेशों की महत्त्वपूर्ण क्लासिकी और आधुनिक काव्य कृतियों के अनुवादों के ज़रिए कवितानुवाद की पुरानी परम्परा को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान तो दिया ही, कविता के माध्यम से संस्कृति की खोज के संदर्भ में अनुवाद की अहम भूमिका को भी रेखांकित किया। हिन्दी में भी कवितानुवाद के जरिए विदेशी संस्कृतियों की खोज की परम्परा काफी पुरानी है, जिसकी सार्थक शुरुआत क्लासिक अंग्रेजी काव्यकृतियों के अनुवादों से हुई और पुष्टि का ठोस प्रमाण भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन 1960 में प्रकाशित 21 देशों के 113 आधुनिक कवियों की 161 कविताओं की हिन्दी छायाओं के संकलन 'देशान्तर' (अनुवाद और सम्पादन : डॉ. धर्मवीर भारती) में मिला। इस सार्थक आरम्भ का श्रेय स्वतंत्रचेता और प्रकृति प्रेमी द्विवेदीयुगीन प्रसिद्ध कवि श्रीधर पाठक, जिनकी पश्चिमी काव्य में गहरी रुचि थी, को जाता है। अनुवादक, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित हेनरी वाड्सवर्थ लौंगफैलो की काव्यकृति : इवैंजलाईन

(Evengeline) के अनुवाद : 'इवैंजलाईन' (1886) और ओलीवर गोल्डस्मिथ की मशहूर काव्यकृतियों (The Deserted Village) और (The Traveller) के अनुवादों : 'ऊजड़ ग्राम' (1890) और 'श्रांतपथिक' (1902) की ऐतिहासिक पहल के जरिए श्रीधर पाठक ने स्वयं को श्रेष्ठ कवितानुवादक के रूप में तो प्रतिष्ठित किया ही, अनुवाद और अनुवादक की भूमिका भी रेखांकित की।

अंग्रेजी हुकूमत और गुलाम मानसिकता के दौर में स्वाभाविक ही था कि श्रीधर पाठक अनुवाद के लिए अंग्रेजी भाषा की कृतियों को ही चुनते। 1886 से सन् 1902 तक उनेक प्रयत्नों से लौंगफैलो, चार्ल्स स्टीवर्ट पार्नेल और ओलीवर गोल्डस्मिथ की काव्यकृतियां हिन्दी में उपलब्ध हो चुकी थीं। हिन्दी में कवितानुवाद के लगभग 115 वर्षों के इतिहास में हिन्दी के कवि अनुवादकों की रुचि ज्यादातर यूरोपीय कविता पर ही केन्द्रित रही। ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ कि अधिसंख्य हिन्दी कवि अंग्रेजी जानते थे/हैं और यूरोपीय कविता के अनेक संग्रह अंग्रेजी में उपलब्ध थे/हैं। इस संदर्भ में पेंग्विन प्रकाशन की 'आधुनिक यूरोपीय कवि' श्रृंखला का जिक्र करना जरूरी है। काश, कविता बिक पाती और यह शृंखला न टूटती। अमरीकी कविता, विश्वकविता या अन्तर्महाद्वीपीय कविता या यों कहें कि अन्तर्राष्ट्रीय कविता के संदर्भ में कोई विशेष स्थान नहीं बना पाई, इसलिए उसकी ओर हिन्दी के कवियों ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। परिणामतः वाल्ट ह्विटमैन, कार्लसैन्डबर्ग, एजरा पाऊण्ड, गिन्सबर्ग आदि कुछ ही कवि उन्हें आकर्षित कर सके। इसके विपरीत, बोर्खेस, पाब्लो नेरूदा, ओक्तावियो पाज़, सेसर वायेरवो आदि विश्वविख्यात लातिनी अमरीकी कवियों की कविताएं हिन्दी जगत में बेहद चर्चित हुईं।

उमर खैयाम की रुबाइयों के माध्यम से एशियाई कविता की ओर ध्यान खींचा फिट्ज़्जेराल्ड ने। फिट्ज़्जेराल्ड कृत अंग्रेजी अनुवादों ने मध्य एशिया के दायरे का अतिक्रमण कर उमर खैयाम को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया। खैयाम की पचहत्तर रुबाइयों के अंग्रेजी रूपान्तरों का संग्रह 1859 में प्रकाशित हुआ। अब तक इसके कई संस्करण छप चुके हैं। फिट्ज़्जेराल्ड ने अनुवाद को जीवन्त बनाने के लिए मूल रुबाइयों के साथ कुछ छेड़छाड़ भी की। उनकी मान्यता थी कि अगर मूल में प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती तो अपनी ही सांसों का संचार उसमें भर देना चाहिए। भुस भरे गिद्ध से फुदकती गौरय्या कहीं बढ़कर है (खैयाम की मधुशाला : अनुवाद-बच्चन (1935)। फिट्ज़्जेराल्ड के अनुवाद को संसार के सर्वश्रेष्ठ अनुवादों में गिना जाता है। अनुवाद की इस सफलता का श्रेय फिट्ज़्जेराल्ड की अनुवाद क्षमता को तो जाता ही है मगर अनुवाद की लोकप्रियता का कारण वे परिस्थितियां भी थीं जिनसे उस समय इंग्लैंड गुजर रहा था जब फिट्ज़्जेराल्ड खैयाम की रुबाइयों को अंग्रेजी में उल्था कर रहा था। खैयाम का दर्शन उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड की विक्टोरियनयुगीन मानसिकता के सर्वथा अनुरूप था। इंग्लैंड औद्योगीकरण के संक्रामक दौर से गुज़र रहा था। लोग दमघोंटू वातावरण और खिन्न मानसिकता

में जी रहे थे। खैयाम के दर्शन में उन्हें सांत्वना मिली। खैयाम की रुबाइयों के अब तक विश्व की कई भाषाओं में अनेकानेक अनुवाद हो चुके हैं। हिन्दी भी अपवाद नहीं। हिन्दी में अब तक इन रुबाइयों के लगभग सोलह अनुवाद हो चुके हैं, मगर खैयाम को हिन्दी में अभूतपूर्व लोकप्रियता खैयाम की मधुशाला (राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1935) और खैयाम की रुबाइयां (हिन्द पाकेट बुक्स, 1959) के ज़रिए बच्चन जी ने दिलाई। यों भी हिन्दी में उपलब्ध तमाम अनुवादों में बच्चन जी के अनुवाद सर्वश्रेष्ठ हैं। दरअसल कविता का अनुवाद, अनुवादक के स्वयं कवि होने पर भी निर्भर करता है बनिस्बत उसके भाषाविज्ञानी होने के। बच्चन जी चूंकि स्वयं श्रेष्ठ कवि हैं, इसलिए वे हिन्दी में खैयाम की कविता की सार्थक पुनर्रचना कर सके। यों उनके अनुवादों की सफलता और लोकप्रियता के लिए तत्कालीन भारतीय परिस्थितियां भी उत्तरदायी थीं क्योंकि गुलामी और स्वतन्त्रता आन्दोलन के उस विक्षुब्ध दौर में लोग और बच्चन एवं अन्य बुद्धिजीवी जिस हताशा में जी रहे थे उससे मुक्ति शराब की मस्ती (पलायनवाद) में मिलती दिखाई दे रही थी। बच्चन जी ने फिट्ज़जेरल्ड के अनुवाद को स्रोत कविता के रूप में इस्तेमाल किया। 1959 में अज्ञेय ने अनुवाद के ज़रिए एशिया के प्रमुख देश जापान की कविता की ओर हिन्दी जगत का ध्यान खींचा। उनके अनुवाद उनकी मूल कविताओं के संग्रह : 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (भारतीय ज्ञानपीठ, 1959) के खंड : 'चीड़ का खाका' में संकलित हैं। अज्ञेय चूंकि समर्थ कवि थे और भावबोध की दृष्टि से जापानी कविता विशेषकर 'हाइकू', भारतीय चिन्तन तथा अज्ञेय की काव्यचेतना के निकट है, इसलिए जापानी कविता का अनुवाद करने में उन्हें काफी सफलता मिली। जापानी साहित्य की झलक (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1975) में संकलित 20 जापानी कवियों की कविताओं के हिन्दी कवियों द्वारा किए गए हिन्दी अनुवादों के जरिए जापानी कविता से हमारा परिचय कुछ और प्रगाढ़ हुआ। प्रसिद्ध फिलीस्तीनी कवि महमूद दरवेश और चीनी राजनीतिज्ञ कवि माओत्से तुंग की कविताएं भी हिन्दी में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध चीनी कवि बाई जुई का काव्यसंग्रह : 'बांस की टहनियां', 'समकालीन चीनी कविताएं' तथा नेपाली कविताओं का संग्रह : 'नेपाली कविता' भी हिंदी में उपलब्ध हैं। कोरियाई कविताओं के तीन संग्रह हैं—कोरियाई कविता (अनु. : कृष्ण खुल्लर, 1987) कोरियाई सीजो कविताएं (अनु. : पद्मा सचदेव; 1991) कोरियाई कविता यात्रा (अनु. : दिविक रमेश, 1999) और द डे ब्रेक, ओ इंडिया (अनु. : दिविक रमेश 1999)। बहरहाल, चण्डीगढ़ द्वारा प्रकाशित काव्यसंग्रह : 'तीसरी दुनिया की कविता' में 17 एशियाई देशों की 56 कविताएं संकलित की गईं। इसी संग्रह में वेस्टइंडीज़, फीजी तथा साइप्रस की कविताओं के साथ 25 अफ्रीकी देशों की 45 कविताएं भी शामिल की गई हैं। श्री नरेन्द्र जैन ने अफ्रीकी लोकगीतों तथा श्री वीरेन्द्र कुमार बरनवाल ने नाइजीरियाई कविताओं को हिन्दी में उल्था किया—अफ्रीकी लोकगीत

(1978), पानी के छींटे सूरज के चेहरे पर (1989) तथा वोले शोयिंका की कविताएं (1991)।

दुर्भाग्य से, बावजूद इसके कि हिंदी की प्रसिद्ध लघु पत्रिका 'लहर' के विश्वकवितांक (1963) में 9 आस्ट्रलियाई कवियों की 9 कविताएं छपी थीं, आस्ट्रेलियाई कविता ही हिन्दी के कवियों का ध्यान नहीं खींच पाई। इसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भवतः इसलिए कि अन्तर्राष्ट्रीय कविता की मुख्य धारा में अभी आस्ट्रेलियाई कविता कोई हलचल पैदा करने में सफल नहीं हो सकी। इससे यह आशय नहीं निकलता कि इस महाद्वीप की कविता में दम नहीं। उम्मीद की जा सकती है कि कभी तो किसी कवितानुवादक की खोजी दृष्टि इस महाद्वीप की कविता पर पड़ेगी ही।

श्रीधर पाठक, निराला, पंत, बच्चन, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर, माचवे, केदारनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल और चन्द्रबली सिंह आदि वरिष्ठ हिन्दी कवियों के प्रयत्नों से छठे दशक के अन्त तक कवितानुवाद को रचनात्मक दर्जा मिल चुका था। पिछले दो दशकों में रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, गिरिजा कुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, त्रिलोचन शास्त्री, राजकमल चौधरी, वरयाम सिंह, विष्णु खरे, कैलाश वाजपेयी, राजीव सक्सेना, श्रीकांत वर्मा, प्रेमलता वर्मा, अशोक वाजपेयी, अजित कुमार, गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, प्रयाग शुक्ल, सोमदत्त, रमेशचन्द्र शाह, गिरधर राठी, रमेश कौशिक, सतीष्कुमार, विनोद शर्मा, विनोद भारद्वाज, नीलाभ, मंगलेश डबराल, प्रभाती नौटियाल आदि अनेक समर्थ हिन्दी कवियों ने कवितानुवाद की परम्परा को समृद्ध किया। अज्ञेय कवितानुवाद को कितना महत्त्व देते थे, इसका अंदाज़ा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उन्होंने यूनानी और जापानी कविताओं को उल्था करके अलग न छपवा कर अपनी मूल कविताओं के साथ अपने कविता संग्रहों, क्रमशः 'सागर-मुद्रा' और 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में संकलित कर प्रकाशित करवाया। इस संदर्भ में कुछ लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही। सरस्वती, माधुरी, कल्पना, युगचेतना, कृति और कवि आदि हिन्दी पत्रिकाओं ने हिन्दी के माध्यम से विदेशी कविताओं को जानने की परम्परा कायम की। पिछले दो दशकों में सरस्वती, चांद की परम्परा, को उत्कर्ष, वातायन, ज्ञानोदय, लहर, आरम्भ, दिनमान, सर्वनाम, नवनीत, पूर्वग्रह, साक्षात्कार, संचेतना, आजकल, रविवार, अकविता, नया प्रतीक, तनाव, पश्यन्ती लोर्का और पहल आदि अनेक बड़ी और छोटी पत्रिकाओं ने समृद्ध कर अभूतपूर्व काम किया। लहर ने अपने विश्व कवितांक (जुलाई अगस्त : 1963) में पांच महाद्वीपों के लगभग 42 देशों के 144 कवियों की करीब 150 कविताओं के हिन्दी रूपान्तरों के जरिए अन्तर्महाद्वीपीय कविता का वैविध्य प्रस्तुत कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। 'सर्वनाम' के अफ्रीका विशेषांक (अप्रैल 1973) और चीन विशेषांक (अगस्त, 1973), 'नया प्रतीक' के

अक्तूबर 1975 के जापानी साहित्य विशेपांक और जनवरी 77 के जर्मन साहित्य अंक (11 कवि : 46 कविताएं), 'अकविता' के जनवरी 1979 के बल्गारियाई कविता विशेषांक (46 कवि : 50 कविताएं) और 'तनाव' के फरवरी 83 तथा फरवरी–मई, 1984 के अंक (जिनमें क्रमशः हंगारी कवि मिक्लोश रादनोती एवं रूसी कवयित्री अन्ना अख्भातोवा की कविताओं के हिन्दी रूपान्तर दिए गए हैं।) आदि पत्रिकांक कविता के माध्यम से संस्कृति की खोज के सन्दर्भ में अनुवाद की भूमिका को रेखांकित करने के महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सिद्ध हुए। इस संदर्भ में उत्कर्ष के बल्गारियाई साहित्य विशेषांक (1989) तथा भारतीय अनुवाद पत्रिका : 'अनुवाद' के भारत-बल्गारिया अनुवाद विशेषांक को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध बल्गारी क्रान्तिकारी कवि निकोला वात्सारोव की कविताओं की हिन्दी छायाओं के संग्रह : 'निकोला वप्त्सारोव की कविताएं', (प्रकाशकः अखिल भारतीय शान्ति परिषद, नई दिल्ली) के ज़रिए सन् 1953 में रामविलास शर्मा ने समाजवादी देशों की कविता की ओर हिन्दी कवियों और पाठकों का ध्यान खींचा था। 1964 में रूसी कविताओं के अनुवाद के जरिए बच्चन जी ने रामविलास शर्मा के प्रयास को सार्थक करने की दिशा में एक और कदम उठाया। (चौसठ रूसी कविताएं : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली)। सातवें दशक में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नेरूदा, ब्रेख्त, मायकोवस्की, पास्तरनाक आदि प्रख्यात प्रगतिशील कवियों की कविताओं के ढेरों अनुवाद प्रकाशित हुए। आठवें दशक में भी हिन्दी कवियों द्वारा समाजवादी देशों की कविता को अनुवाद के माध्यम से समझने की कोशिश जारी रही। 1973 में प्रसिद्ध रूसी कवि आन्द्रे वॉज्नेसेंस्की की कविताओं के श्रीकांत वर्मा कृत हिन्दी रूपान्तरों का संग्रह : 'फैसले का दिन' प्रकाशित हुआ। दो वर्ष बाद 1975 में नेशनल पब्लिशिंग हाऊस से एक सौ एक रूसी कविताओं के रमेश कौशिक कृत हिन्दी अनुवादों का संग्रह छपा और 1978 में रूसी कविताओं के हिन्दी रूपान्तरों के दो और संग्रह प्रकाशित हुए–(i) रूसी और सोवियत प्रेम कविताएं (अनु : रमेश कौशिक) तथा (ii) आधुनिक रूसी कविताएं (अनुः भरतभूषण अग्रवाल, राजीव सक्सेना एवं श्रीकान्त वर्मा)। रूसी कवियों द्वारा रचित भारत विषयक कविताओं की हिंदी छायाओं के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–(i) वोल्गा के दर्पण में गंगा के चित्र (1987) और (ii) स्वर तुम्हारे अक्षर मेरे (1989)। पिछले दो दशकों में अनेक रूसी कविताओं को हिंदी में रूपांतरित कर डॉ. वरयाम सिंह अभूतपूर्व ख्याति अर्जित कर चुके हैं। उनके लगभग एक दर्जन पुनर्रचना संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। छब्बीस वर्ष बाद निकोला वप्त्सारोव की कविताओं की हिन्दी छायाओं का दूसरा संग्रह 1979 में समकालीन प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया। इस संग्रह की अधिसंख्य कविताएं गंगाप्रसाद विमल एवं इस लेख के लेखक द्वारा अनूदित की गई थीं। 1978 में प्रख्यात बल्गारी क्रान्तिकारी कवि ह्रुस्तो बोतेव की कविताओं की हिन्दी छायाओं का संग्रह 'महाप्रस्थान', प्रकाशित हुआ। रूपान्तरकार थे जगदीश

चतुर्वेदी।

कम-से-कम कवितानुवाद के क्षणों में तो हर अनुवादक कवि होता ही है, अन्यथा कवितानुवाद सम्भव नहीं हो सकता। अगर अनुवादक लक्ष्य भाषा का श्रेष्ठ (और प्रतिष्ठित भी) कवि है तो वह लक्ष्य भाषा में स्रोत भाषा से मात्र अनुवाद नहीं करता, बल्कि स्रोत कविता की पुनर्रचना करता है, बशर्ते कि पुनर्रचना के लिए चुनी गई कविता उसके अपने काव्य-संस्कारों के अनुरूप हो। 'महाप्रस्थान' की सफलता की एक वजह यह भी थी कि बोतेव और चतुर्वेदी, दोनों की कविता, चट्टान तोड़कर फूट निकलने और निरन्तर बहने वाले चश्मे के संस्कारों से युक्त हैं। फर्क सिर्फ़ चट्टान तोड़ने में समर्थ विस्फोटक ऊर्जा के स्रोत का है। बोतेव की कविता की यह ऊर्जा आज़ादी की आकांक्षा अर्थात देश प्रेम अर्थात तुर्की शासकों के प्रति असीम हिंस्र घृणा से प्राप्त करती है तो चतुर्वेदी की 'अकविता ' की ऊर्जा का स्रोत भी मोहभंग के साक्षात्कार से तिलमिलाये हुए व्यक्ति के आक्रोश को ही व्यक्त करती है। आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में कवितानुवाद के क्षेत्र में जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, विनोद शर्मा और सतीकुमार के ठोस कार्य के फलस्वरूप 1980 के अन्त तक हिन्दी जगत, बोतेव, निकोला वप्त्सारोव, लिल्याना स्तेफानोवा, ग्योर्गी जगारोव, ल्यूबोमीर लेवचेव, एलिजावेथा बाग्रयाना और कई अन्य बल्गारी कवियों से परिचित हो चुका था। 1980 में ही समकालीन प्रकाशन की विश्व कविता-मंच-शृंखला के अन्तर्गत फिनलैंड के प्रमुख कवियों के हिन्दी रूपान्तरों का संग्रह : 'भूमि जो है नहीं' भी प्रकाशित हुआ। 1981 में इटली के प्रमुख कवियों की कविताओं के हिंदी रूपांतरों का संग्रह : 'इतालवी कविता' प्रकाशित हुआ।

इन यूरोपीय देशों के संदर्भ में कवितानुवाद की पहल और उपलब्धि का श्रेय भी जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल और विनोद शर्मा की अनुवाद क्षमता को ही जाता है। संग्रहों से सम्बद्ध विमोचन समारोहों एवं पकत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षात्मक लेखों में इन्हें सांस्कृतिक सेतुओं का दर्जा दिया गया। विष्णु खरे भी लम्बे अर्से से कवितानुवाद के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। 1960 में प्रकाशित टी.एस. इलियट की कविताओं के हिन्दी अनुवादों के संग्रह 'मरुप्रदेश और अन्य कविताओं' के ज़रिए इन्होंने काफी ख्याति अर्जित की। 1980 में 'जयश्री प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित काव्य-संग्रह : 'यह चाकू समय' के जरिए इन्होंने हंगारी कवि, 'अत्तिला योझेफ' से हमारा अन्तरंग साक्षात्कार कराया।

तुर्की कविता से हिन्दी के पाठकों का परिचय काफी पुराना है। प्रसिद्ध क्रांतिकारी तुर्की कवि नाज़िम हिकमत की कविताओं के चन्द्रबली सिंह कृत अनुवादों का संग्रह 'हाथ' संकल्प प्रकाशन से 1958 में प्रकाशित हुआ था। चौंतीस वर्ष बाद तुर्की कविताओं का संग्रह 'तुर्की कविता', समकालीन प्रकाशन दिल्ली से छपा। इस प्रतिनिधि संग्रह के ज़रिए क्लासिकी एवं आधुनिक तुर्की कविता के बारे में काफ़ी जानकारी बटोरी जा सकती है। संग्रह में शामिल लगभग एक दर्जन अनुवाद

इस लेख के लेखक ने किए। 1985 में प्राचीन और आधुनिक यूनानी कवियों की कविताओं की हिंदी छायाओं का संग्रह : 'यूनानी कविता' प्रकाशित हुआ। कविताओं को हिंदी में उल्था किया था श्री कृष्ण खुल्लर और विनोद शर्मा ने।

कविता की सांस्कृतिक यात्रा के संदर्भ में आधुनिक कविता से हिन्दी कवियों के साक्षात्कार का सिलसिला जारी है। 1886 से 2000 तक प्रकाशित हो चुके हिन्दी कवियों की 83 उल्लेखनीय पुनर्रचनाओं/पुनर्रचना संग्रहों की तालिका यहां दी जा रही है : (तालिका-1)। हिन्दी के कवि-अनुवादकों की तरह विशुद्ध हिन्दी अनुवादक (जो कवि नहीं थे/हैं) भी पश्चिमी काव्य से साक्षात्कार करने की महत्त्वपूर्ण कोशिश करते रहे/कर रहे हैं। प्रसिद्ध ब्रितानी कवि 'टामस ग्रे' की चर्चित कृतिः 'Elegy written in a country churchyard' के 1897 में प्रकाशित गोपीनाथ पुरोहित कृत हिन्दी अनुवाद 'ग्रामस्थ शवागार में लिखित शोकोक्ति' और बाद के महत्त्वपूर्ण प्रयत्नों को तालिका-2 में सूचीबद्ध किया गया है। कवितानुवाद की परम्परा को समृद्ध करने में इन काव्य प्रेमी अनुवादकों के योगदान को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में डॉ. सत्यभूषण वर्मा का उल्लेख करना जरूरी है। डॉ. वर्मा द्वारा मूल जापानी भाषा से हिन्दी में अनूदित 10 तांका और 40 हाइकू कविताओं का एक संकलनः 'जापानी कविताएं' 1977 में 'नेशनल पब्लिशिंग हाऊस' से छपा। इस संकलन में मूल कविताएं जापानी भाषा में, उनके देवनागरी लिप्यंतरण और हिन्दी अनुवाद साथ-साथ दिये गए हैं। जापानी लिपि और उच्चारण से परिचित कराने का यह अनोखा कार्य हिन्दी में पहली बार किया गया।

अन्त में एक अप्रकाशित अनूदित कृति का जिक्र भी कर दिया जाए। सन् 1900 में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि बायरन की कृति 'ब्राइडल नाईट' का छायानुवाद किया था। अश्लीलता के आरोप की आशंका के कारण वे अपनी उक्त अनूदित कृति : 'सोहागरात' को प्रकाशित कराने का साहस न जुटा सके। तालिका-2 में मैंने अपने कथन 'कम-से-कम अनुवाद के क्षणों में तो हर अनुवादक कवि होता ही है' की पुष्टि के प्रमाण जुटाने की भी कोशिश की है। अंशतः उक्त दोनों तालिकाएं आत्माराम सेठी (सह-पुस्तकालयाध्यक्ष, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय) द्वारा संकलित एवं इण्डियन डॉक्यूमेंटेशन सर्विस, गुड़गांव द्वारा 1981 में प्रकाशित सन्दर्भ ग्रन्थ : "अनूदित हिन्दी साहित्य : विशिष्ट ग्रन्थ सूची : 1875-1975" में संकलित जानकारी पर आधारित हैं।

तालिका—1

1. इवैंज लाईन (हेनरी वाड्सवर्थ लौंगफेलो)
   अनु. श्रीधर पाठक (अनुवादक, इलाहाबाद, 1886)
2. एकांतवासी योगी (पार्नेल चार्ल्स स्टीवर्ट)
   अनु. श्रीधर पाठक (अनुवादक, इलाहाबाद, 1886)

3. ऊजड़ ग्राम (ओलीवर गोल्डस्मिथ)
अनु. श्रीधर पाठक (अनुवादक, इलाहाबाद, 1890)
4. क्लाउड मैमोरियल (ओलीवर गोल्डस्मिथ)
अनु. श्रीधर पाठक (ओरियन्टल प्रेस, आगरा, 1900)
5. श्रांत पथिक (ओलीवर गोल्डस्मिथ)
अनु. श्रीधर पाठक (इलाहाबाद, 1902)
6. रुबाइयात उमर खैयाम,
अनु. मैथिलीशरण गुप्त (प्रकाश पुस्तकालय कानपुर, 1931)
7. निकोला वप्त्सारोव की कविताएं
अनु. रामविलास शर्मा (अखिल भारतीय शान्ति परिषद, नई दिल्ली-1953)
8. हाथ (नाज़िम हिकमत)
अनु. चन्द्रबली सिंह (संकल्प प्रकाशन—1958)
9. खैयाम की रुबाईयां,
अनु. डॉ. हरिवंशराय बच्चन (हिन्द पाकेट बुक्स, 1959)
10. खैयाम की मधुशाला,
अनु. बच्चन (छठा संस्करण, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1959)
11. अरी ओ करुणा प्रभामयः खंड-चीड़ का खाका
अनु. अज्ञेय (भारतीय ज्ञानपीठ 1959)
12. देशान्तर,
अनु. डॉ. धर्मवीर भारती (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-1960)
13. मरुप्रदेश एवं अन्य कविताएं (टी.एस. इलियट)
अनु. विष्णु खरे (नोबेल साहित्य प्रकाशक, कटक, 1960)
14. माओत्से तुंग की कविताएं :
अनु. राजीव सक्सेना, (विदेशी भाषा प्रकाशन, पीकिंग, 1961)
15. चौंसठ रूसी कविताएं
अनु. बच्चन (राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1964)
16. मरकत द्वीप का स्वर (विलियम बटलर यीट्स)
अनु. बच्चन (राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1964)
17. आत्मा की आंखें (डेविड हरवर्ट लॉरेंस)
अनु. दिनकर (उदयाचल प्रकाशन, पटना, 1964)
18. सेसर वायेखो
अनु. प्रेमलता वर्मा (पेरुदूतावास, दिल्ली, 1969)
19. सागरमुद्रा : खण्ड : देलोस से एक नाव,
अनु. अज्ञेय (राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1970)
20. फैसले का दिन (आन्द्रे वाज्नेसेन्सकी)
अनु. श्रीकान्त वर्मा (पहचान/2, इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद, 1973)

21. एक सौ एक सोवियत कविताएं,
अनु. रमेश कौशिक, (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1975।
22. माच्चू पिच्चू के शिखर (पाब्लो नेरूदा)
अनु. नीलाभ (पहल, जबलपुर, 1975; जनवादी साहित्य सीरीज़ः संख्या-1
23. सफेद रातें काले दिन (स्वीडी कविताएं)
अनु. सतीकुमार (पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1978)
24. रूसी और सोवियत प्रेम कविताएं,
अनु. रमेश कौशिक (पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1978)
25. आधुनिक रूसी कविताएं, अनु. भारत भूषण अग्रवाल, राजीव सक्सेना, श्रीकान्त वर्मा (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978)
26. मुर्गायुद्ध और अन्य कविताएं (ल्यूबोमीर लेवचेव)
अनु. सतीकुमार (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978)
27. दूरान्त यात्राएं (एलिजावेथा बाग्रयाना)
अनु. डॉ. गंगा प्रसाद विमल (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978)
28. शान्तिपथ (मिलन ब्रैन्ड)
अनु. गंगा प्रसाद विमल (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978)
29. पितृभूमिश्च (ह्रष्तो बोतेव)
अनु. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978)
30. महाप्रस्थान (ह्रष्तो बोतेव)
अनु. जगदीश चतुर्वेदी (वसुन्धरा पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1978)
31. अफ्रीकी लोक गीत (अपने बच्चों के लिए शेरनी का गीत और अन्य कविताएं)
अनुवाद : नरेन्द्र जैन, पहल पुस्तिका सीरीज, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978)
32. जन्मभूमि व अन्य कविताएं,
अनु. कृष्ण खुल्लर, विनोद शर्मा, डॉ. गंगा प्रसाद विमल, (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979)
33. वर्षान्त (ग्योर्गी जगारोव)
अनु. सतीकुमार, (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979)
34. प्रश्नांतक : वैस्सिलिस विट्साक्सिस,
अनु. डॉ. गंगा प्रसाद विमल (पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1979)
35. है-नहीं है (लिल्याना स्तेफानोवा)
अनु. विनोद शर्मा (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980)
36. भूमि जो है नहीं (फिनलैंड की काव्यधारा)
अनु. जगदीश चतुर्वेदी, डॉ. गंगा प्रसाद विमल, विनोद शर्मा, कृष्ण खुल्लर, (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली-1980)
37. यह चाकू समय (अत्तिला योझेफ),
अनु. विष्णु खरे (जयश्री प्रकाशन, नई दिल्ली-1980)

38. अलेक्सांद्र ब्लोक की कविताएं
अनु. वरयाम सिंह, (प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, 1980)
39. नाज़िम हिकमत की कविताएं :
अनु. सोमदत्त, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1981)
40. इतालवी कविता, अनु. कृष्ण खुल्लर, डॉ. गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, राजेन्द्र अवस्थी, विनोद शर्मा, सुरेश धींगड़ा, (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981)
41. तुर्की कविता,
अनु. कृष्ण खुल्लर, विनोद शर्मा, सुरेश धींगड़ा, विनोद सेठ, कुलभूषण, राजेन्द्र अवस्थी (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982)
42. शाश्वत पंचांग और अन्य कविताएं (ल्यूबोमीर लेवचेव),
अनु. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, दिमितर पोपोव (पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982)
43. लूचेजार एलन्कोव की कविताएं,
अनुवाद : डॉ. गंगा प्रसाद विमल (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982)
44. नेपाली कविता
अनुवाद : नरेन्द्र जैन
भारतीय दूतावास काठमांडू, नेपाल, 1982
45. आधुनिक हंगारी कविताएं,
अनु. गिरधर राठी, (राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1983)
46. महायुद्धों के आसपास (आधुनिक फ्रांसीसी कविताएं)
अनु. हेमन्त जोशी (गौरव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983)
47. छुट्टी का दिन (लूचेजार एलन्कोव की कविताएं)
अनुवाद : गंगाप्रसाद विमल, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983।
48. बोझीदार बोझिलोव की कविताएं,
अनुवाद : गंगा प्रसाद विमल (पराग प्रकाशन, 1984)
49. हम चीखते क्यों नहीं (बीसवीं सदी की पश्चिम जर्मन कविता)
अनु. विष्णु खरे, (वही), 1984।
50. मायकोव्स्की : क्रान्तिपूर्व की कविताएं
अनु. वरयाम सिंह (गरिमाश्री, नई दिल्ली, 1984)
51. बल्गारियाई कविताएं,
अनु. रमेश कौशिक, (पराग प्रकाशन, दिल्ली 1985)
52. यूनानी कविताएं :
अनु. विनोद शर्मा, कृष्ण खुल्लर (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली-1985)
53. आंद्रेई वोजनेसंस्की की कविताएं,
अनु. वरयाम सिंह (प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1985)
54. आधुनिक ब्येलोरूसी कविताएं,
अनु. वरयाम सिंह (प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1986)

55. बड़ा चिड़ियाघर और अन्य कविताएं (निकोलास गीयेन)
अनुवाद : गिरधर राठी (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1986)
56. सड़क किनारे पेड़ (योदान मिलेव),
अनु. गंगा प्रसाद विमल (पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1987)
57. गाथाएं सपनों की (मार्क्स, एंज़िल, लेनिन, माओ, हो ची मिह्न), अर्नेस्तो चे ग्वेरा और आगस्टिनो नेटो की कविताएं)
अनु. : सोमदत्त (परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1987)
58. पास्तरनाक़ की कविताएं (रूसी)
अनुवाद : रंजनप्रसाद सिंह (मुकुल प्रकाशन, पटना, 1988)
59. अनुपस्थिति का देश तथा अन्य कविताएं (गब्रिएला मिस्त्राल) की कविताएं
अनुवाद : डॉ. गंगा प्रसाद विमल, विनोद शर्मा, अशोक लाहड़ (सोसायटी फार इस्पानिक स्टडीज, दिल्ली, 1988).
60. कविता विषयक रूसी कविताएं
अनुवाद : वरयाम सिंह
गरिमा श्री प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988
61. नन्ही डिबिया (वास्को पोपा की कविताएं)
अनुवाद : सोमदत्त
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988.
62. पानी के छींटे सूरज के चेहरे पर (नाईजीरियाई कविताएं)
अनुवाद : वीरेन्द्र कुमार बरनवाल
संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1989
63. आधुनिक हंगारी कविता
अनुवाद : रघुवर सहाय
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1989
64. अग्नि परीक्षा और अन्य कविताएं (बीसवीं शताब्दी की बल्गारियाई कविता)
अनुवाद और सम्पादन : विनोद शर्मा
पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1989
65. मार्तिन फिएर्रो (स्पेनी भाषा की कालजयी काव्यकृति; अर्खेन्तीना) कवि : रवोसे अर्नान्देस
अनुवाद : प्रेमलता वर्मा
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1989।
66. स्वर तुम्हारे अक्षर मेरे
अनु. : डॉ. श्याम सिंह शशि
समता प्रकाशन, दिल्ली, 1989
67. पुनर्वसु (36 विदेशी कवियों की कविताएं)
सम्पादन : अशोक वाजपेयी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1989)

68. आधुनिक ओसेतियाई कविताएं
अनुवाद : वरयाम सिंह
(अमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990)
69. शिशिर रात्रि का अनुराग (कोरियाई सीजो कविताएं)
अनुवाद : पद्मा सचदेव (साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1991)
70. नोवेल पुरस्कार विजेता वोले शोयिंका की कविताएं
अनुवाद : वीरेन्द्र कुमार बरनवाल
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1991
71. बांस की टहनियां (चीनी कवि बाई जुई की कविताएं)
अनुवाद : प्रियदर्शी ठाकुर खयाल
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1993
72. तनी हुई प्रत्यंचा (बीसवीं सदी की रूसी कविताएं)
अनुवाद : वरयाम सिंह
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1997
73. मनास (किर्गीज महाकाव्य)
अनुवाद : वरयाम सिंह
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1997
74. ओक्तावियो पाज़ की कविताएं
अनुवाद : प्रयाग शुक्ल
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1998
75. रुको, ओ पृथ्वी (पाब्लोनेरूदा)
अनुवाद : प्रभाती नौटियाल
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1998
76. कालेवाला (फिनलैंड का राष्ट्रीय महाकाव्य)
अनुवाद : विष्णु खरे
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
77. बीतती सदी में
(नोबेल विजेता पोलिश कवयित्री विस्वावा शिंबोर्स्का की कविताएं)
अनुवाद : विजय अहलूवालिया
संवाद प्रकाशन, मेरठ, 1998
78. विश्वकाव्य चयनिका (23 विदेशी कवियों की कविताएं)
सम्पादन : डा. नगेन्द्र
बिड़ला अकादमी ऑव आर्ट एवं कल्चर
कलकत्ता (1998)
79. कोरियाई कविता-यात्रा
अनुवाद : दिविक रमेश

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1999

80. आधुनिक पोलिश कविताएं
संकलन और अनुवाद : हरिमोहन शर्मा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
81. भविष्य संगीत (हंस माग्नुस एत्सेंसबेर्गर की कविताएं, चयनिका)
अनु. : उज्ज्वल भट्टाचार्य
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
82. मध्यवर्ग का शोकगीत
हंस माग्नुस एत्सेंसबर्गर की कविताओं का चयन
अनुवाद : सुरेश सलिल
परिकल्पना, लखनऊ, 1999
83. द डे ब्रेक, ओ इण्डिया (कोरियाई कवयित्री किम यांग शिक की कविताएं)
अनुवाद : दिविक रमेश
अजंता बुक इंटरनेशनल, दिल्ली, 1999
84. ओ मेरे वसंत के वर्ष (पुश्किन की प्रेम कविताएं)
अनुवाद : कुमार कौस्तुभ
संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2000
85. धूप की लपेट (अनुवाद खण्ड)
अनुवाद : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
(वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली)

तालिका—2

1. ग्रामस्य शवागार में लिखित शोकोक्ति (टॉमस ग्रे)
अनु. गोपीनाथ पुरोहित (वेंकटेश्वर प्रैस, बम्बई, 1897)
2. श्रान्त पथिक (ओलीवर गोल्डस्मिथ)
अनु. ए.के. भट्टाचार्य (वाराणसी, 1902)
3. हौरेशस (लोर्ड मैकाले)
अनु. (i) छंगामल मिश्र (अनुवादक, मैनपुर, 1903)
(ii) बच्चन पांडेय (ब्रह्मा प्रेस, इटावा, 1911)
(iii) रघुनाथ प्रसाद कपूर (हाथरस, 1912)
4. इलियड काव्यसार (होमर)
अनु. उदय नारायण वाजपेयी (ओंकार प्रैस, इलाहाबाद, 1917)
5. गोल्डस्मिथ ओलीवर तथा पार्नेलपद्यावली
अनु. ए. के. भट्टाचार्य (वाराणसी, 1924)
6. वृद्ध नाविक (कॉलरिज)
अनु. मोहन लाल व्रासुदेव (आगरा, 1926)

7. कामुक अथवा सतीत्व महिमा (जॉन मिल्टन)
अनु. रामनारायण मिश्र (नवयुग पुस्तक भंडार, इलाहावाद, 1938)
8. खैयाम की रुबाइयां,
अनु. रघुवंश लाल गुप्त (किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1938)
9. समाधिगीत (टामस ग्रे) अनु. इन्द्रलाल देवरिया (गोरखनाथ, 1942)
10. उमर खैयाम की रुवाइयां,
अनु. भगवत दयाल वर्मा, नारायणलाल (इलाहाबाद, 1946)
11. खैयाम का जाम,
अनु. कमला चौधरी, (साहित्य सेवा सदन, मेरठ, 1952)
12. शैली (शैली पर्सा विशी)
अनु. यतीन्द्र कुमार (भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1954)
13. शेक्सपियर के सॉनेट,
अनु. भोलानाथ शर्मा, (साहित्य निकेतन, बरेली, 1954)
14. शेक्सपियर के सॉनेट,
अनु. राजेन्द्र द्विवेदी (आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1958)
15. बुद्ध चरित्र (आर्नल्ड एडविन)
अनु. रामचन्द्र शुक्ल (2 रा. सं. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1957)
16. महाकवि कीट्स का काव्यलोक,
अनु. यतीन्द्र कुमार (आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, 1959)
17. शोकांजली (टॉमस)
अनु. जयकृष्ण चतुर्वेदी (चतुर्वेदी प्रकाशन समिति, आगरा, 1968)
18. जापानी कविताएं,
अनु. डॉ. सत्यभूषण वर्मा (सीमान्त प्रकाशन, कलकत्ता 1977)
19. समकालीन यूगोस्लाव कविता,
अनु. श्योराज सिंह जैन (बाहरी पब्लिकेशन प्रा. लि. नई दिल्ली, 1978)
20. माल गोदाम व अन्य कविताएं : (येवगेनी यव्तुशेंको)
अनु. महेन्द्र प्रकाश पांडे, (समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980)
21. पुरानी धरती का बेटा (नात्सगदोर्ज, मंगोलिया)
अनुवाद : महाव्रत विद्यालंकार, युगजीत नवलपुरी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1966
22. अबाई कुनान्बायेव चयनिका (कज़ाख़स्तान)
अनु. : पद्यखण्ड – हेमचन्द्र पांडे
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1995
23. प्रेमराग (हंगारी प्रेम कविताएं)
अनु. : इन्दु मसालदान
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1998

24. वोल्गा के दर्पण में गंगा के चित्र
अनु. : साबिर सिद्दीकी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
25. समकालीन चीनी कविताएं
अनु. : डॉ. प्रियदर्शी मुखर्जी
नेशनल बुक ऑर्गेनाइजेशन, 1998
26. पैट्रीशिया कीनी की कविताएं
अनु. : संजीव मिश्र
वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
27. कविता की रात
(बर्मी कवि ची औं की कविताएं)
अनु. : चन्द्र प्रकाश प्रभाकर मौतीरिं
इरावदी प्रकाशन, नई दिल्ली (1993)
28. बर्फीले हिरन
अनु. : वही
प्रकाशक एवं प्रकाशन वर्ष : वही।
29. डी. एच. लारेंस की कविताएं
अनु. : कृष्ण खुल्लर
समकालीन प्रकाशन नई दिल्ली, 1980
30. आधुनिक आस्ट्रियाई कविता
अनु. : वही
प्रकाशनः वही (1986)

खेल जारी है

प्रेमचन्द की कहानी 'गुल्ली-डंडा' के तीन प्रसंग मेरे सामने हैं।

प्रसंग-1 : खेल में पदते-पदते तंग आकर एक दिन पहले खिलाए गए अमरूद के अहसान के एवज में, दाँव देने की यातना से कथानायक मुक्ति चाहता है, मगर उसका हमजोली, स्थानीय गुल्ली-डंडा क्लब का चैम्पियन गया राजी नहीं होता। परिणामतः पहले बहस, फिर गाली-गालौज और फिर मारपीट। गया कथानायक को रोते देख भयभीत होकर भाग खड़ा होता है। नीच जात के लौण्डे से पिटने पर थानेदार का बेटा कथानायक अपमानित महसूस करता है।

प्रसंग-2 : इंजीनियर साहब की हैसियत से जिले के दौरे पर निकला कथानायक बीस साल बाद उसी कस्बे में लौटता है जहाँ उसने बचपन का कुछ हिस्सा बिताया था। उसे अपना हमजोली गया याद आता है। मुलाकात होने पर डिप्टी साहब का साईस गया, उसे झुककर सलाम करता है। वह बचपन में न दिये गये दाँव के मित्र-ऋण से मुक्त होने का इरादा जाहिर करता है। कस्बे से दूर एक निर्जन जगह खेल शुरू होता है। धाँधलियों, घपलों और बेकायदगियों का सहारा ले लगभग घण्टा भर अफसर, टके के मजदूर को पदाता है और अन्ततः उदारता का परिचय देते हुए दाँव खेलने का आग्रह करता है। टाँड़ लगाने में दोनों बार हुचकर, गया अपना दाँव एक मिनट में ही खो बैठता है। एक बार और खेलने का आग्रह ठुकराकर गया, कथानायक की विशाल हृदयता को नकार देता है। यही नहीं विदा होते वक्त कथानायक को उसकी सुविधानुसार अगले दिन गुल्ली-डण्डा का मैच देखने का निमन्त्रण भी दे देता है।

प्रसंग-3 : दस-दस आदमियों की दो मंडलियाँ खेल रही हैं। कार में बैठा कथानायक खेल देख रहा है। गया टाँड़ लगाता है तो गुल्ली आसमान छूती है। उसकी डण्डे की चोट से गुल्ली दो सौ गज़ दूर गिरती है। उसके नैपुण्य से परास्त विरोधीदल का कोई खिलाड़ी यदि धाँधली पर उतर आने की कोशिश करने लगता है तो गया के तमतमाए चेहरे से आतंकित हो धाँधलेबाजी से तुरन्त हाथ खींच लेता है।

खेल-प्रसंगों का उक्त संक्षिप्त सपाट रपटनुमा विवरण हमें कहानी के कथ्य का आभास करा देता है। कहानी में ये प्रसंग पात्रों के जीवन्त सम्वादों, आवश्यक ब्योरों और विस्तार के साथ उपस्थित हैं और परिवेश की चुम्बकीयता, कथानायक

की अतीत यात्रा, उसके विश्लेषणपरक एकालापों और मानवीय निष्कर्षों के जरिए हमें जातिवाद की पोषक व्यवस्था के सामन्ती दृष्टिकोण की गहरी जानकारी देते हैं।

कहानी के आरम्भ में ही अतीत यात्रा के दौरान कथानायक महँगे अंग्रेजी खेल 'क्रिकेट' और सस्ते देसी खेल, 'गुल्ली-डण्डा' की तुलना करने के बाद मन ही मन जिस निष्कर्प, 'हम लोग अंग्रेजी चीज़ों के पीछे ऐसे दीवाने हो रहे हैं कि अपनी सभी चीज़ों से नफ़रत हो गई है–' पर पहुँचता है, वह प्रेमचन्द के जमाने के विदेशी संस्कृति से आक्रान्त आम हिन्दुस्तानी की दिमागी गुलामी और कहानीकार की विशुद्ध भारतीय दृष्टि को रेखांकित करता है। कहानी की प्रासंगिकता यहीं से उजागर होना शुरू हो जाती है क्योंकि आज आजादी के करीब तिरेपन वर्प बाद भी 'गुल्ली-डण्डा' का खेल पिछड़ेपन का प्रतीक समझा जाने वाला गँवारू खेल उपेक्षित है और सिर्फ गरीबों तक ही सीमित है। दूसरी ओर औपनिवेशक अवशेष क्रिकेट के खेल का 'क्रेज' देश पर हावी है तथा आम हिन्दुस्तानी दिमागी गुलामी से मुक्त नहीं हो पाया है। कथानायक के उक्त निष्कर्ष में ही अपने देशवासियों की पिछलग्गू मानसिकता पर कहानीकार की टिप्पणी छिपी हुई है, जो व्याख्या की कतई मोहताज नहीं है। ठीक इसी तरह कहानी के अन्त में भी प्रेमचन्द कथानायक के निष्कर्षों के माध्यम से उच्चजातियों के खोखले अहम् और जातिवाद के सामन्ती चेहरे पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं। मोटरकार में बैठकर गया का खेल नैपुण्य और विकसित होकर प्रौढ़ हो चुकी गुल्ली-डण्डा खेलने की गया की लड़कपन की प्रतिभा का चमत्कार देखकर। [प्रसंग–3] कथानायक समझ जाता है कि पिछले दिन, दरअसल उसका दिल रखने की खातिर गया ने खुद न खेलकर उसे खिलाया भर था। [प्रसंग–2]। इससे वह यह निष्कर्ष निकालता है कि उसके और गया के बीच उठ चुकी अफसरी की दीवार के कारण अब उसे गया का लिहाज और अदब तो मिल सकते हैं, साहचर्य नहीं और महसूस करता है–वह (गया) बड़ा हो गया है, मैं (कथानायक) छोटा हो गया हूँ–कथानायक के अहसास (निम्न जाति के हाथों उच्चजाति की पराजय) में अगर कहानीकार की पक्षधरता प्रतिबिम्बित होती है तो उसके निष्कर्ष के जरिये कहानीकार पैसा-पद-प्रतिष्ठा के कारण बचपन के दो साथियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले आकस्मिक बदलाव को तो रेखांकित करता ही है, उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों पर की जानेवाली नैतिक/मानसिक हिंसा पर भी टिप्पणी करता है। यह कहानी की कलात्मक बुनावट का एक दिलचस्प पहलू है कि कहानीकार ने कथानायक, जो सुविधाभोगी शोषक वर्ग का प्रतिनिधि होने के नाते वस्तुतः प्रतिनायक है, के विश्लोषणपरक एकालाप के निष्कर्षों पर अपनी टिप्पणियाँ इस अद्भुत दक्षता से आरोपित की हैं कि कहानी में प्रत्यक्षतः अनुपस्थित प्रतीत होती हुई भी वे पाठक को निरन्तर झकझोरती रहती हैं। परिणामतः कथानायक का एकालाप, कहानीकार और पाठक के बीच चलने वाले सार्थक

संवाद में बदल जाता है। यह संवाद साधारण घटनाओं, मामूली पात्रों और ग्लैमरहीन अकृत्रिम ग्रामीण परिवेश के इर्द-गिर्द कहानी बुनने की प्रेमचन्द की असाधारण क्षमता और भारतीय जनजीवन और जनमानस में उनकी गहरी पैठ को रेखांकित करता है। यों 'हाई ब्राउ एटीट्यूड' और उससे जुड़ी 'स्नॉब्री' से चिपकी प्रेमचन्द युगीन (समकालीन भी) अफसरशाही का प्रतिनिधि कथानायक, नॉस्टैल्जिया को अपने ऊपर हावी होने की इजाजत देने के कारण आदर्श पात्र ही कहलायेगा। मगर कहानी कथानायक के एकालाप का अतिक्रमण करती हुई भी बहुत कुछ कहती है जिसे सुनना हमारे लिए जरूरी है। प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रतिविंबित करने वाली यह कहानी हमें यह जानकारी देती है कि निम्न जाति के गरीब परिवार में जन्मा प्रतिभाशाली बच्चा भी अन्ततः जिन्दगी की दौड़ में उच्च जाति के सम्पन्न परिवार के औसत बच्चे से बहुत पीछे रह जाता है और प्रत्येक गया की नियति किसी न किसी साहब की खिदमत में अभिशप्त जिन्दगी भोगना मात्र है।

मनु की वर्ण व्यवस्था ने हमारे समाज को अन्ततः जातिवाद के असाध्य रोग के हवाले कर दिया जिसकी गिरफ्त में हमारा देश सदियों से कसमसा रहा है। प्रेमचन्द ने इस भयावह वास्तविकता पर प्रहार करने के उद्देश्य से ही, अपनी कहानी गुल्ली-डण्डा में तीन बेहद मामूली खेल प्रसंगों के जरिए, सामन्ती व्यवस्था के जिस खूँखार चेहरे को उकेरा है उसके आतंक को औजार के रूप में इस्तेमाल करके ऊँची जातियाँ निरन्तर नीची जातियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर उन्हें शोषण और दमन का शिकार बनाये हुए हैं। यह वही ड्रैक्युला चेहरा है जिसकी शिनाख्त कुछ वर्ष पूर्व बेलछी, पिपरा, परसबिगहा, नारायणपुर आदि गाँवों में हुई, आगजनी, हत्या, बलात्कार की घटनाओं के माध्यम से निम्न जातियों के मनोबल को ध्वस्त करने की उच्चजातियों की अमानवीय कोशिशों ने की। यह विडम्बना ही है कि अभूतपूर्व वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियों के आधुनिक दौर में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक तमाम शक्तियों की नकारात्मक भूमिका के फलस्वरूप भारतीय समाज पर जातिवाद की आदमखोर पकड़ ढीली पड़ने के बजाय और ज्यादा कसती जा रही है। इसलिए यह कहना तर्कसंगत और प्रासंगिक होगा कि 'गुल्ली-डण्डे' का वह खेल जिसे खेलने वाली एक पार्टी/व्यक्ति, प्रभुसत्तासम्पन्न उच्च वर्ग से सम्बद्ध है और दूसरा दल/व्यक्ति सामाजिक अन्याय के शिकार निम्नवर्ग से सम्बद्ध है। [प्रसंग-2] अब भी जारी है।

प्रतिभाशाली होने के बावजूद बेचारा गया लगातार पद रहा है और औसत मगर अफसर खिलाड़ी उसे येन-केन-प्रकारेण पदा रहा है।

यह नृशंस खेल क्या कभी खत्म होगा ?

मैं कविता क्यों लिखता हूं?

आदमी अकेलेपन से डरता है। क्यों भला? खुद से बात जो करनी पड़ती है। कितना आसान है दूसरों का हाल पूछना, उनसे सवाल करना या उनके सवालों का जवाब देना? अकेला होते ही आदमी परेशान हो उठता है। किससे 'हेलो' कह कर हाल पूछे? स्वयं से। स्वयं कौन? विनोद शर्मा। कौन विनोद शर्मा? अरे वही...है ना परेशानी की बात? इधर आदमी ने खुद से सवाल किया—'मैं कौन हूं?' और उधर उसके मुखौटे उतरने शुरू हुए। ज्यों-ज्यों खुद से बातचीत (सवाल/जवाब) का सिलसिला आगे बढ़ता चला जाता है, आदमी के सामने उसके चेहरों का ढेर लगता चला जाता है और फिर शुरू होती है असली चेहरा पहचानने/खोजने की उसकी कोशिश।

आम आदमी (यदि वह आहार, निद्रा, भय, मैथुन की दुनिया तक ही सीमित नहीं रहना चाहता) खुद से सिर्फ एक ही सवाल : 'मैं कौन हूं?' पूछता है, मगर कवि (यदि वह जेनुइन है तो) को एक और प्रश्न : 'मैं क्यों लिखता हूं?' भी खुद से पूछना पड़ता है। यही कारण है कि वह दोहरी यातना भोगता हुआ, 'मैं कौन हूं?' और मैं क्यों लिखता हूं?' इन दो प्रश्नों के बीच पेंडुलम की तरह भटकता रहता है। यह भटकाव उसके आत्मसंघर्ष को जन्म देता है और इसी बिंदु से आरम्भ होती है—उसकी विकास-यात्रा। आत्मसंघर्ष के खत्म होते ही कवि चुक जाता है।

कवि से यह पूछना कि वह कविता क्यों लिखता है, ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी व्यक्ति से यह पूछना कि वह क्यों बोलता है? दोनों का उत्तर होगा—स्वयं को अभिव्यक्त करने यानी कि अपनी बात कहने के लिए। आदमी बोलकर दूसरों को अपनी जानकारी देता है, जबकि कवि कविता के माध्यम से अपनी और समाज की तस्वीर तो पेश करता ही है, अपनी खोज यानी खुद तक पहुंचने/अपना असली चेहरा पहचानने की कोशिश भी करता है। खुद को तलाशने के लिए जरूरी है, खुद से बातचीत की जाए। अगर यह सवाल उठाया जाए कि कविता क्या है तो मेरा उत्तर होगा—कवि खुद से जो कहता है, उसे कविता कहते हैं। दरअसल कविता लिखते वक्त कवि खुद से तथा समाज/दुनिया, दोनों से बात कर रहा होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि कविता कवि, व्यक्ति और समाज के बीच चलने वाला त्रिकोणात्मक संवाद होती है।

मैंने भी खुद से अक्सर दोनों सवाल—(i) मैं कौन हूँ? और (ii) मैं क्यों लिखता हूँ?—पूछे हैं और हर बार यही महसूस किया है कि दूसरे प्रश्न में पहला सवाल भी छिपा हुआ है। आखिर कविता में कवि का जो अनुभव व्यक्त होता है

(कवितानुभव) उसका स्रोत कवि के व्यक्ति के अनुभव के अलावा और क्या हो सकता है? दरअसल कवि, कवितानुभव को अनुभव की भाषा से कविता की भाषा में रूपांतरित ही तो करता है। रूपांतरण की उक्त प्रक्रिया से गुजरते हुए वह समझ एवं अभिव्यक्ति के संकटों से उबरने की कोशिश करता है और इस यत्न की सफलता पर ही उसकी सफलता (कवि की हैसियत से) निर्भर होती है।

कविता आदमी में खुलने वाली ऐसी खिड़की है जिसके जरिए कवि दुनिया को देखता/समझता है और सहृदय पाठक/श्रोता, कवि, उसका परिवेश, जिस समाज में वह रहता है उसका ढांचा आदि साफ-साफ देख सकता है अर्थात् कवि की व्यक्तिगत जिंदगी और उसकी दुनिया में झांक सकता है। इस प्रकार यह खिड़की कवि की भीतरी दुनिया और बाहरी दुनिया के बीच पुल का काम करती है। सामाजिक संदर्भ में कवि की शिनाख्त भी इसी खिड़की के जरिए की जाती है। यों आम आदमी (विशिष्ट व्यक्ति के विपरीतार्थक के रूप में नहीं बल्कि वह कवि नहीं है इसलिए) की जिंदगी में भी खिड़की के खुलने और बंद होने का अर्थ है : उसका (आम आदमी का) बाहर (समाज) से जुड़ना और कटना। यह निश्चित है कि बंद कमरे में कैद आदमी, ऑक्सीजन के अभाव में अन्ततः घुटकर मर जाएगा। तभी तो लाश को कब्र (खिड़की विहीन कमरा) में दफन किया जाता है और दृष्टि विहीन (बाल की खाल निकालें तो बेहद संकुचित दृष्टि वाला) व्यक्ति मुर्दे का पर्याय माना जाता है। मेरे लिए कविता लिखने का वही मतलब है जो बंद कमरे में कैद आदमी के लिए खिड़की खोलने का होता है। यों, खिड़की का खुलना भर काफ़ी नहीं है। 'वही किस ओर खुलती है?' और 'उसके सामने क्या है?'—ये दोनों सवाल भी महत्त्वपूर्ण हैं। बंद बदबूदार गली में खुलने वाली खिड़की की उपयोगिता क्या हो सकती है? ताजी हवा और पर्याप्त धूप जिससे मिले और जिसके सामने समुद्र का नीला फैलाव लहराता हो, वह खिड़की भला किसे नहीं भाएगी? कवि के लिए जरूरी है कि उसकी दृष्टि उसी पर केन्द्रित न होकर समाज बल्कि समूची दुनिया (अगर संभव हो तो) की परिक्रमा करे।

कविता मेरे अस्तित्व की बुनियादी शर्त है। सांस लेने की तरह सहज, स्वाभाविक, नियमित एवं निर्विकार ढंग से मैं कविता जीता (भोगता)/रचता हूँ—किसी पर रोब गालिब करने, फैशन अथवा प्रदर्शन के लिए नहीं। सांस लेना कोई उपलब्धि या स्टेटस सिंबल भी नहीं कि इस आधार पर मैं स्वयं को वी. आई. पी. या असाधारण व्यक्ति मान लूं लेकिन यदि एक मिनट भी मैं सांस न ले सकूं तो क्या हो—यह सोचते ही हाथ-पांव ढीले पड़ने लगते हैं। संभवतः यही वजह है कि कविता पढ़, लिख या अनूदित न कर पाने की स्थिति में (कारण कुछ भी हो सकता है : मन की अस्थिरता, घेरलू या दफ्तरी व्यस्तता) मैं बेचैन रहता हूँ। एक कमी ऐसे मोड़ पर अचानक जिंदगी में घुसपैठ कर जाती है। मुझे महसूस होता है कि मेरा विकास रुक गया है। मेरे विचार से कविता की रचना प्रक्रिया और कवि के व्यक्ति के विकास की

प्रक्रिया में गहरा संबंध होता है। आखिरकार कविता की जांच पड़ताल, 'क्या कहा गया?' (कथ्य) और 'कैसे कहा गया?' (रूप) के आधार पर हीं तो की जाती है। कथ्य चूंकि प्रत्यक्षतः कवि की जागरूकता/ अनुभव सम्पन्नता और परोक्षतः उसके व्यक्तित्व को रेखांकित करता है अतः कविता की महानता उसके द्वारा व्यक्त होने वाली, कवि (कबीर हो या निराला अथवा रिल्के हो या नेरूदा) की अवेयरनेस (कवि के अनुभव की चरम परिणति) के स्तर से तय की जाती है।

यों कहने को कुछ भी कहा जाए मगर बुनियादी तौर पर कवि, आत्माभिव्यक्ति के लिए ही लिखता है। परिवेश का दबाव उसके मन पर धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। परिणामतः प्रतिक्रिया स्वरूप एक तनाव (छटपटाहट/यातना जन्य) की सृष्टि होती है। बाहरी दबाव के साथ-साथ भीतरी तनाव भी बढ़ता जाता है। ऐसी स्थिति में कवि तनाव निकालने के लिए निकास ढूंढ़ता है। फलतः कविता के रूप में उसका तनाव स्खलित हो जाता है। कविता चूंकि व्यक्तिगत तो होती है सार्वजनिक भी होती है इसलिए पाठक/श्रोता तक पहुंचते ही उसकी प्रासंगिकता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। कविता के समकालीन अथवा ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करने और कवि को सामाजिकता के आइने में देखने के लिए यह जरूरी भी है क्योंकि कवि समाज की एक इकाई है और उसके कवि कर्म की सार्थकता का सीधा संबंध कविता की प्रासंगिकता से जुड़ता है।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि कविता का कथ्य कवि के व्यक्तित्व को यानी उसकी अवेयरनेस (सोच + चिंता + सरोकार) को रेखांकित करता है। अब यह मान लें कि कथ्य अपने अनुरूप शिल्प स्वयं तलाश करता है तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि कविता का शिल्प भी कवि के व्यक्तित्व ही की ओर संकेत करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि कविता की प्रासंगिकता अन्ततः कवि के अस्तित्व की प्रासंगिकता/सार्थकता को ही प्रतिबिंबित करती है। प्रासंगिकता चूंकि स्थान/समाज/समय-सापेक्ष होती है इसलिए इसकी कसौटी पर खरा उतरना कविता के लिए जरूरी है। महान कविता अपनी अदम्य जिजीविषा के बल पर भिन्न-भिन्न कालखंडों में अलग-अलग पाठकों/श्रोताओं को भिन्न-भिन्न अर्थ देती है अर्थात् तात्कालिकता के दायरे को पार कर समय के बेहद लम्बे अन्तराल को लांघती हुई असंख्य पीढ़ियों के लिए प्रासंगिक बनी रहती है। प्रासंगिकता की निरंतरता महान कविता का अनिवार्य तत्त्व है और इसे ही शायद मुक्तिबोध ने यह कहकर कि : 'कभी खत्म नहीं होती कविता', रेखांकित किया है। कविता को किसी खास वाद (छायावाद हो अथवा प्रयोगवाद) या आंदोलन (अकविता हो या विचार कविता?) के माध्यम से जानने/समझाने (किसी कवि अथवा कुछ कवियों के समूहों को साहित्य में प्रतिष्ठित करने की नहीं) की कोशिश सतही तौर पर भले ही उसे (कविता को) परिभाषित करने की प्राध्यापकीय प्रवृत्ति/मज़बूरी को प्रतिबिंबित करती हो, मगर बुनियादी तौर पर वह (कोशिश) कविता की प्रासंगिकता को ही रेखांकित करती है। खेमों और वादों के इस युग में यह स्पष्ट करना भी जरूरी हो जाता है कि प्रासंगिकता कविता पर थोपी नहीं जा सकती, वह तो

मां के गर्भ में पड़े नाभिनाल बद्ध शिशु सी कविता के भीतर उसके नाभिक में विद्यमान रहती है। यही वजह है कि किसी खास विचारधारा या राजनीतिक पार्टी के सिद्धांतों को अनुभव बनाए/अवेयरनेस में रूपांतरित किए बगैर प्रचारमात्र या प्रासंगिकता का सिक्का भुनाने के लिए रची गई कविता न सफल कविता हो सकती है और न सफल नारा ही; हां, कवि जरूर एक्सपोज हो जाता है। सच तो यह है कि कविता में धोखाधड़ी चलती ही नहीं। क्योंकि कविता, कवि की छाया है जो अवेयरनेस की धूप में उसके साथ चलती है, लेकिन छद्‍म का अंधेरा घिरते ही गायब हो जाती है। यों छद्‍म का सहारा, कवि या तो मोह और महत्त्वाकांक्षा के दबाब में आकर या फिर कविता को दौड़ समझने के भ्रम में लेता है। दरअसल कवि को जेनुइन और कविता को ट्रैश कहते वक्त हम छद्‍म को ही नकार रहे होते हैं। व्यावसायिकता का दबाव अथवा कविता की दौड़ में हिस्सा लेने या आगे निकल जाने का अहसास भी कविता को छद्‍म से जोड़ देता है। जेनुइन कवि कविता को दौड़ मानता ही नहीं और अगर मानता भी है तो मैरथन, बल्कि कभी न खत्म होने वाली दौड़ मानता है, सौ, दो सौ मीटर की नहीं।

कई बार कवि से यह सवाल भी पूछा जाता है कि वह किसके लिए—आम आदमी के लिए या किसी खास एलीट बुद्धिजीवी के लिए—लिखता है? उक्त प्रश्न का जवाब कविता की भाषा, अमूर्तता, दुरूहता/जटिलता के संदर्भ में ढूंढा जाना चाहिए।

कविता के जरिए कवि की बात ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचे इसके लिए जरूरी है : (i) कविता में संप्रेषणीयता हो यानी आम बोलचाल के मुहावरे में लिखी गई हो, (ii) कविता में सूक्ष्म बुनावट में बड़ी (दुरूह या जटिल नहीं) बात कही गई हो, प्रभावोत्पादकता हो और (iii) कविता पारदर्शी हो ताकि उसके पीछे छुपा/छुपे अर्थ दीख जाए/जाएं। जाहिर है, दृष्टि के कोण के साथ-साथ अर्थ के चेहरे की भंगिमाएं भी बदली नजर आएंगी।

मैं समझता हूँ कि आम आदमी की भाषा में बड़ी बात साफ-साफ कहना पर्याप्त कवितानुशासन अर्जित किए बिना, कवि के लिए संभव नहीं। इस दिशा में कवि को निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह बात दीगर है कि आम बोलचाल की भाषा में व्यक्त होकर भी संभव है, कवि का अनुभव आम आदमी को कोई संस्कार न दे पाए, मगर इससे कवि को हताश होने की जरूरत नहीं क्योंकि आम (हर) आदमी की अनुभव सम्पन्नता और संवेदनशीलता की भी सीमा होती है और यह जरूरी नहीं कि हर कविता आम आदमी के लिए ही लिखी जाए। जेनुइन कवि न तो एलीट बुद्धिजीवी के लिए लिखता है और न आम आदमी के लिए ही, वह तो उस आदमी के लिए लिखता है जो उसकी तरह ही अनुभव सम्पन्न होता है—इस उम्मीद के साथ कि कभी न कभी वो वक्त भी आएगा जब धरती की सारी जनसंख्या उसकी कविता समझेगी। 'जिन मजदूरों के लिए मैं कविता लिखता हूँ, वे मेरी कविता नहीं समझ सकते—मैं जानता हूँ, मगर एक दिन ऐसा आएगा जब वे मेरी कविता समझेंगे....' पाब्लो नेरूदा का यह कथन मुझे उक्त संदर्भ में सार्थक लगता है।

ब्रह्मराक्षस और मुक्तिप्रसंग

पच्चीस वर्ष पहले कुछ महीनों के अंतराल में संसार की तीन महान फिल्मी हस्तियां मौत के कुएं में गुम हो गईं–पियरे पासोलीनी, ऋत्विक घटक और लुकीनो विस्कौंती। पासोलीनी की हत्या एवं घटक तथा विस्कौंती के निधन के कारण इतालवी सिनेमा ने दो, तथा भारतीय सिनेमा ने एक विलक्षण फिल्मकार खो दिए। विस्कौंती एक अद्वितीय फिल्मकार थे। उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व बहस के दायरे में नहीं आते। इतालवी सिनेमा को दुनिया के नक्शे पर अंकित करने वाले विस्कौंती ही थे। उन्हें इतालवी सिनेमा का सत्यजीत राय कहा जा सकता है।

पासोलीनी भी अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त फिल्मकार थे। मगर जिन्दगी भर वे विवाद का शिकार बने रहे। ऋत्विक घटक भी पासोलिनी की तरह समकालीन फिल्मकारों की तुलना में प्रसिद्ध कम हुए, विवादास्पद ज्यादा रहे। पासोलीनी का आक्रामक स्वभाव घटक को भी मिला था। इस आक्रामक स्वभाव ने ही पासोलीनी को उनके विकृत आचरण और घटक को शराबखोरी की ओर धकेला। पासोलीनी एवं घटक की रचनाओं में उनका आक्रामक रवैया देखा जा सकता है। दोनों फिल्मकार ग्लैमर को तोड़ने का प्रयास करते रहे और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली। पासोलीनी की अजीबोगरीब परिस्थितियों में हत्या होना और घटक की मौत को लेकर अखबारों में सुर्खियों और चित्रों का न होना भी तो ग्लैमर के खिलाफ ही जाता है। ग्लैमर को ध्वस्त करने की कोशिश के पीछे भी घटक और पासोलीनी का आक्रामक रवैया ही काम कर रहा था।

छः फरवरी, 76 की रात को कलकत्ता के एक अस्पताल में पीलिया से श्री घटक का देहांत हुआ। शराब उनकी जिजीविषा और मौत से लड़ने की ताकत को खत्म कर चुकी थी। उससे पहले घटक कई बार मौत के मुंह से बच निकले थे मगर उस बार वे असफल रहे और आम आदमी की जिंदगी को समझने वाला एक ईमानदार फिल्मकार हिंदुस्तानी सिनेमा ने खो दिया। घटक यदि सत्यजीत राय की सफलता से आक्रांत न होते या फिर शराब की लत से पीछा छुड़ाने में सफल हो जाते, तो सम्भवतः उनकी महत्त्वकांक्षा का सूरज नाउम्मीदी के अंधेरे में न डूबता।

फिल्म निर्माण कला के अतिरिक्त, साहित्य, दर्शन एवं संगीत में भी ऋत्विक घटक ने गहरी डुबकी लगाई थी। वे निपुण सरोदवादक थे। स्वर्गीय अलाउद्दीन खां के वे कुछ समय तक शिष्य भी रहे। जासूसी साहित्य से लेकर मार्क्सवाद के दर्शन तक उनके अध्ययन का क्षेत्र फैला हुआ था। वे फिल्म देखते थे तो डूबकर देखते थे और किताब पढ़ते

थे तो डूब कर पढ़ते थे। उन्होंने कई अच्छी साहित्यिक कहानियां, फिल्मों की पटकथाएं और संवाद लिखे। कई सालों तक वे रंगमंच से जुड़े रहे। लुकीनो विस्कौंती की तरह उन्हें भी रंगमंच से खास लगाव था। "इंडियन पीपल्स थिएटर एसोसिएशन" (इप्टा) के सक्रिय सदस्य भी वे रहे। वे फिल्म इंस्टीट्यूट (पूना) के प्रथम उपप्रधानाचार्य थे।

फिल्मकार की हैसियत से उन्होंने अपना कैरियर सन् 1952 से शुरू किया। उनकी पहली फिल्म थी–**नागरिक**। बदकिस्मती से यह फिल्म (कभी) प्रदर्शित नहीं हो पाई। 1958 में बनी फिल्म "अजांत्रिक" ने फिल्म जगत को घटक का एक जागरूक एवं समर्थ फिल्मकार के रूप में परिचय दिया। फिल्म का नायक–(एक ड्राइवर) अपनी नायिका–(गाड़ी) को बेहद चाहता है। सत्यजीत राय के कथनानुसार भी फिल्म की नायिका मोटरकार ही है। मशीन के मानवीकरण पर बनी फिल्म 'अजांत्रिक' घटक की मौलिकता का सबूत है, दस्तावेज है। दुर्भाग्य से व्यावसायिक दृष्टि से यह फिल्म असफल रही। अगले छह वर्षों में घटक ने कुछ उत्कृष्ट फिल्में बनाईं जिनमें "मेघे ढका तारा", **कोमल गांधार और स्वर्ण रेखा** उल्लेखनीय हैं। उनकी फिल्मों की व्यावसायिक असफलता ने उन्हें आत्मघाती आदतों तथा भयानक विसंगतियों से ग्रस्त और असंतुलित जिन्दगी जीने के लिए मजबूर किया। कोमल गांधार जैसी श्रेष्ठ कला फिल्म के बॉक्स ऑफिस पर पिटने के बाद आने वाला अनिश्चितता और संत्रास का दौर उन्हें तोड़ने के लिए काफी था और टूटकर घटक के कदम शराबघर की तरफ बढ़े तो फिर लौटने का नाम नहीं लिया। पियक्कड़ और फक्कड़ घटक को कई बार गरीबी एवं भुखमरी की मार भी सहनी पड़ी। उन्हें टूटना मंजूर था मगर झुकना नहीं। बीमारी ने कई बार उन पर हमला किया किन्तु अपनी संकल्प शक्ति के बल पर वह हर बार बच निकले। 1974 में घटक ने **"तितास एकटि नदीर नाम"** और **"युक्ति तर्क और गल्प"** नामक दो कथा फिल्में भी बनाईं। पहली फिल्म का फिल्मांकन पूरा हुआ ही था कि घटक क्षय के शिकंजे में आ गए। उनके फेफड़े में एक या दो नहीं, पूरे छह छेद पाए गए इस पर भी कुछ ही दिनों बाद उठ खड़ा होना और गाली बकते हुए फिल्म के शाट लेना, घटक का ही काम था।

घटक एक लम्बे अर्से तक सत्यजीत राय को लेकर हीन भावना के शिकार रहे। सभाओं एवं गोष्ठियों में अक्सर वे स्वयं को रे से बड़ा कलाकार घोषित करते हुए सुने जाते थे। यही नहीं, रे की फिल्मों की आलोचना भी वे जम कर किया करते थे। मगर इस सबके बावजूद वे रे की प्रतिभा को स्वीकारते भी थे। एक बंगला पत्रिका में कभी उन्होंने लिखा था कि फिल्म माध्यम की हिंदुस्तान में यदि किसी को समझ है तो सत्यजीत राय को है। घटक की मौत पर बोलते हुए राय ने दिल्ली में घटक के प्रति कोमल भावनाएं तथा उनके कृतित्व के प्रति अपना आदर व्यक्त किया और उन्हें इस शताब्दी के महान फिल्मकारों में ऊंचा दर्जा दिया। कला फिल्मों के निर्माण में पहल करने वालों में घटक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी फिल्मों ने पदक या अन्य राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार नहीं जीते, मगर फिर भी सत्यजीत राय के अलावा किसी और भारतीय फिल्मकार की तुलना घटक से की ही नहीं जा सकती।

घटक एक विद्रोही कलाकार थे और समझौता करना उनके स्वभाव में शामिल

नहीं था। रे और ऋत्विक, भारतीय सिनेमा के दो छोर हैं। रे, घटक से ज्यादा ऊंचे कद के कलाकार हैं मगर ऋत्विक का यथार्थवादी खुरदरापन दर्शक की मोटी से मोटी खाल को भी छीलने की सामर्थ्य रखता है। 'रनवे' पर दौड़ता हुआ हवाई जहाज जिस तरीके से उड़ान भरता है, ठीक उसी प्रकार घटक की फिल्में सामाजिक विषयों को उठाती हैं और संवेदना के असाधारण स्तरों को छूकर दर्शक को भीतर तक झकझोर देती हैं। फिल्मकार की बीहड़ और यातनापूर्ण जिन्दगी उनकी फिल्मों में साफ दिखाई देती है। घटक की फिल्में मृत्यु के खिलाफ हैं और जीने का समर्थन करती हैं। उनकी फिल्मों के पात्र उनके व्यक्तित्व के हिस्से हैं और उनका चेहरा इन पात्रों में ढूंढ़ा जा सकता है। उनकी **फिल्म त्रयी** को ही लीजिए। ''मेघे ढका तारा'', ''कोमल गांधार'' तथा ''सुवर्णरेखा''। तीनों अपने आप में पूर्ण होते हुए भी एक लम्बी फिल्म की तीन कड़ियां हैं और लम्बी फिल्म का थीम है, विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों की सामाजिक–आर्थिक समस्याएं। इन शरणार्थियों की अभावग्रस्त जिन्दगी, त्रासद निरीह वर्तमान एवं अतीत के वैभव से चिपके मोह को पर्दे पर उतारकर घटक ने समकालीन फिल्मकारों फिल्म समीक्षकों एवं कलात्मक रुचि रखने वाले दर्शकों को आश्चर्य चकित कर दिया। उक्त फिल्म त्रयी के दृश्य, शरणार्थियों की यातना तथा संत्रास को इस यथार्थवादी ढंग से दिखाते हैं कि दर्शक आर्त्तनाद कर उठता है। पात्रों के अस्तित्व के संकट का बोध या भय उसे सांप की तरह कुंडली मार कर जकड़ लेता है और वह कांप उठता है।

श्री घटक सिनेमा को अपनी बात कहने का माध्यम मानते थे। कला को कला के लिए इस्तेमाल करना उन्हें अनुचित जान पड़ता था। आम आदमी में उसके परिवेश की समझ पैदा करना उनका उद्देश्य था। यही वजह है कि कई बार अपनी बात दर्शकों तक पहुंचाने के मामलों में वे कलात्मक प्रयोगों और कला के मानदण्डों को नजरअंदाज कर देते थे। रंगमंच के प्रभाव से भी उनकी फिल्में मुक्त नहीं थीं।

हिन्दी के विख्यात कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की एक कविता, एक ब्रह्मराक्षस की मुक्ति के प्रसंग के इर्द-गिर्द बुनी गई है। ब्रह्मराक्षस एक बावड़ी में रहता है। वह शाप ग्रस्त है और अभिशप्त जिंदगी से मुक्ति चाहता है। कलाकार के लिए अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। अभिव्यक्ति के कैद होने का अर्थ कलाकार के अभिशप्त होने से जुड़ता है। प्रयोग–धर्मी कलाकार अपनी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्ति के अछूते आयामों को खोजने की कोशिश करता है और इस कोशिश के आरंभ और सार्थक अंत के बीच फैले हुए वक्त को वह बावड़ी में कैद ब्रह्मराक्षस की तरह जीता है। उसकी भोगी हुई यह अभिशप्त जिंदगी ही उसके व्यक्तित्व को संवारती है। चित्रकार वैनगो, कवि निराला और मुक्तिबोध, उपन्यासकार फ्रैन्ज काफ्का और पासोलीनी तथा ऋत्विक घटक जैसे फिल्मकारों की, ब्रह्मराक्षस की अभिशप्त जिंदगी की यातना को भोगना शायद नियति थी। यह नियति उनकी कलाकृतियों में हमेशा जिन्दा रहेगी और मुक्तिप्रसंग की परिक्रमा किए बिना इन ब्रह्मराक्षसों की चर्चा अधूरी ही समझी जाएगी।

द्वीप नहीं थे अब्बास साहब

जीवन के बीहड़ रेगिस्तान से गुजरती हुई एक संघर्षशील गरिमामय यात्रा ठिठक गयी। जीवन और मृत्यु की मुठभेड़ की एक और शौर्यगाथा समाप्त हुई। चार अप्रैल, 1987 की सुबह मृत्यु ने अज्ञेय की जीवनी का अंतिम संस्मरण लिखा था। एक जून की सुबह उसने ख्वाजा अहमद अब्बास की जीवनी का अंतिम पृष्ठ लिखा। अज्ञेय और अब्बास दोनों 'राहों के अन्वेषी' थे, किन्तु अज्ञेय ने अस्मिता की तलाश के लिए व्यक्तिगत सरोकारों की सुरक्षित दुनिया चुनी जबकि अब्बास ने सामाजिक सरोकारों की जोखिमभरी दुनिया चुनी। अज्ञेय और अब्बास भारतीय साहित्य की दो विपरीत धाराओं से सम्बद्ध थे। अज्ञेय स्वयं को 'नदी का द्वीप' कहते थे और अब्बास की आत्मकथा का शीर्षक है—"मैं द्वीप नहीं हूं"।

प्रगतिशील कथाकार, पत्रकार, फिल्म समीक्षक और फिल्मकार ख्वाजा अहमद अब्बास की कृतियां उनके सामाजिक सरोकारों और आम आदमी के प्रवक्ता होने की प्रतिबद्धता को रेखांकित करती हैं। दुर्भाग्य से पत्रकारिता की लोकप्रियता व वाचालता और फिल्मी दुनिया के ग्लैमर की धुंध में उनका साहित्यकार गुम हो गया, या यों कहिए कि लोगों को दिखाई देना बंद हो गया। संभवतः लोग उन्हें 'आवारा' जैसी अविस्मरणीय फिल्म और ब्लिट्ज के अंतिम पृष्ठ के लेखक के रूप में याद करेंगे।

ख्वाजा अहमद अब्बास का जन्म पानीपत में सन् 1914 में हुआ था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने स्वयं को सड़े हुए फल की संज्ञा दी है। ऐसा सड़ा फल जो एक ऐसे वंशवृक्ष से टपका था, जिस पर संत, पापी, हत्यारा, लुटेरा, एकाकी, कापुरुष, साहसिक, भाग्यशाली, कृषक, कवि और धर्मपरायण आदि विभिन्न प्रकार के आदम फल लगे थे। उनकी इस पारिवारिक पृष्ठभूमि ने ही संभवतः उन्हें यह सोचने के लिए बाध्य किया होगा कि कौन गढ़ता है मनुष्य की नियति, आनुवांशिक प्रभाव या वातावरण अथवा परिवेश का दबाव? इस प्रश्न को केन्द्र में रखकर आगे चलकर उन्होंने फिल्म 'आवारा' की कहानी लिखी। यह प्रश्न उनके फिल्मकार का हमेशा पीछा करता रहा। अब्बास ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से 1935 में कानून की परीक्षा उत्तीर्ण की। शीघ्र ही वे 'बाम्बे क्रोनिकल' से फिल्म समीक्षक के रूप में जुड़ गए। यों पत्रकारिता का पहला सबक उन्होंने बी.ए. की परीक्षा के बाद

दिल्ली में अंग्रेजी दैनिक 'नैशनल कॉल' में बतौर प्रशिक्षार्थी सीखा था। बॉम्बे क्रोनिकल में उन्होंने पलायनवादी व्यावसायिक फिल्मों की तीखी समीक्षाएं लिखीं। उनकी खरी और असरदार समीक्षाओं से घबराकर बंबई के प्रभावशाली निर्माताओं ने प्रबंधकों पर दबाव डाला कि अब्बास को नौकरी से निकाल दिया जाये अन्यथा पत्र का बहिष्कार कर दिया जायेगा। परिणामतः उन्हें रविवारीय संस्करण का काम सौंप दिया गया, जहां से शुरू हुई 'अंतिम पृष्ठ' की लंबी कहानी की भव्य जय-यात्रा। 'अन्तिम पृष्ठ' की परिकल्पना, काव्यांशों, टिप्पणियों, खबरों, दार्शनिकों के विचारों, आलोचनात्मक गद्यांशों के चयन और सामूहिक लेखकीय प्रयास के गिर्द बुनी गयी थी। कालान्तर में यह परिकल्पना अब्बास के 'वन-मैन शो' में परिणत हो गयी।

आधुनिक प्रगतिशील उर्दू कहानी के संदर्भ में अब्बास के योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। उनकी कहानियों का प्रथम संग्रह सन् 1937 में प्रकाशित हुआ था। उर्दू अंग्रेजी में उनकी दर्जनों कृतियां प्रकाशित हुईं। एक लड़की, जाफरान के फूल, पांव में फूल, मैं कौन हूं, गेहूं और गुलाब, नई धरती नये इंसान, नई साड़ी (कथा संग्रह), इन्कलाब, चार दिल चार राहें, दिया जले सारी रात, एण्ड वन डिड नॉट कम बैक, तीन पहिए, कांच की दीवारें (उपन्यास) आई एम नॉट ऐन आइलैंड (आत्मरचना) आउटसाइड इन्डिया (यात्रा संस्मरण), प्यार की पुकार, रिर्टन ऑव रेड रोज और दैट वुमन उनकी अन्य उल्लेखनीय रचनाएं हैं। सोद्देश्य साहित्य के कायल अब्बास के कृतित्व के स्रोत समकालीन भारतीय यथार्थ और मध्य तथा श्रमिक वर्गों की जिंदगी में ढूंढ़े जा सकते हैं। अपना संदेश जनता तक पहुंचाने के लिए उन्होंने मार्मिकता और प्रगीतत्व का सहारा लिया। लिरिसिज्म के वैशिष्ट्य से युक्त अनेक मर्मस्पर्शी कहानियां—सिल्विया, बारह घंटे, जाफरान के फूल, पांव में फूल आदि—उन्होंने लिखी हैं। उनकी कहानियां बौद्धिकता से आक्रान्त होकर नहीं लिखी गईं अतः वे दुरूह नहीं हैं। मार्मिक अंत, आम बोल-चाल की भाषा और जीवन्त पात्रों के कारण अब्बास की कहानियां पाठक के मन पर गहरा असर छोड़ती हैं। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में लड़े गए कश्मीरी मुक्ति संग्राम की पृष्ठभूमि में लिखी गई कहानी—जाफरान के फूल—की नायिका जाफरानी, उसका और उसके भाई का प्राणोत्सर्ग, उसके विवाह के लिए चिन्तित मां, रोगियों पर ममत्व उंडेलने का व्रत लेने वाली अविवाहित नर्स सिल्विया (अंग्रेजी शीर्षक सिल्विया), फिल्मी—अधोलोक की प्रेम कहानी—पांवों में फूल की नायिका चन्द्रा की त्रासदी, महारानी बनने का स्वप्न देखने वाली गणिका राधा का मोहभंग, (अंग्रेजी शीर्षक : रिफलेक्शन इन द मिरर); परपीड़क रहीम के हृदय में मादा चिड़िया की नवजात शिशुओं की सुरक्षा की चिन्ता से उत्पन्न करुणा (अंग्रेजी र्शीषक : स्पैरोज) कैसे भूल सकता है कोई?

प्रत्येक प्रगतिशील लेखक परोक्षतः एक समाज सुधारक की भूमिका भी अदा

करता है। परिणामतः कभी-कभी उसे समाज के किसी खास तबके या किसी संकीर्ण व्यक्ति का विरोध भी सहना पड़ता है। अब्बास भी अपवाद नहीं थे। उनकी तीन विवादास्पद कहानियों—सरदार जी, बारह घंटे और सरकशी—ने उनके लिए कई कठिनाइयां पैदा कीं।

'सरदारजी'—अब्बास की सर्वाधिक चर्चित एवं विवादास्पद कहानी है। इस कहानी पर भारत और पाकिस्तान की विभिन्न अदालतों में मुकदमे चले। कहानी प्रथम पुरुष में मुसलमान नायक द्वारा नैरेट की गई है। कहानी के आरंभ में नायक सिख जाति के प्रति अपने पूर्वाग्रहों को व्यक्त करता है। संयोग से "जब दिल्ली और नई दिल्ली में साम्प्रदायिक उपद्रव का बोलबाला था," उसके पड़ोस में एक सिख परिवार रहने आता है। शंका और डर नायक के मन को त्रस्त किए रखते हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में उसके सहपाठी गुलाम रसूल ने उसके पूर्वाग्रह को पुख्ता कर दिया था। वह कैसे यकीन करता कि सिख भी इन्सान होते हैं। दंगों के आतंक से घबराकर वह अपने परिवार को पाकिस्तान भेज देता है। अचानक हिन्दुस्तान आजाद होने के वाद, मुसलमानों के घर लूटे, जलाए जाने लगे, उनकी हत्या की जाने लगी, एक दिन कुछ वलवाइयों ने नायक के घर पर आक्रमण कर दिया। नायक को पड़ोसी सरदारजी ने अपने घर में छुपा लिया। दुर्भाग्य से राज खुल गया। परिणामतः सरदारजी और बलवाइयों में झगड़ा हुआ और अन्ततः सरदारजी को गोली मार दी गई। मरते वक्त सरदारजी ने नायक को वताया कि गुलाम रसूल नामक एक मुसलमान ने रावलपिंडी में उनके प्राणों और सम्मान की रक्षा की थी। अतः उसे (नायक शेख बुरहानुद्दीन) बचाने की खातिर प्राण देकर उन्होंने (सरदारजी ने) गुलाम रसूल का कर्जा उतार दिया है। नायक के मन में बसे सिखों के प्रति पूर्वाग्रहों के वर्णन से कुछ सिख और मुसलमान गलतफहमी के शिकार हो गए। अब्बास की अधिसंख्य कहानियां सत्य घटनाओं, तथ्यों पर आधारित हैं। इसीलिए कुछ आलोचक उनकी कहानियों को कहानियां नहीं मानते और उनके कृतित्व में उन्हें साहित्य के छद्मवेश में पत्रकारिता दिखाई पड़ती है। उक्त कहानी भी सांप्रदायिक सद्भाव को रेखांकित करने वाली एक सत्य घटना पर आधारित है, जो अंशतः उनके परिवार के सदस्यों के पानीपत से बंबई सुरक्षित पहुंचने से सम्बद्ध है। संभावित खतरों के पूर्वाभास के कारण शायद अब्बास इस कहानी को लिखने के बाद से छपवाने तक चिंतित एवं संशकित से रहे। श्रीनगर में लिखने के अगले ही दिन उन्होंने कुछ लेखकों, कलाकारों—जिनमें तीन सिख भी थे—को यह कहानी सुनाई थी। सबने कहानी की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। बाद में उन्होंने राजेन्द्र सिंह वेदी को भी कहानी सुनाई, जिनकी सलाह से यह कहानी लाहौर की एक प्रसिद्ध पत्रिका 'अदब-ए-लतीफ' में प्रकाशनार्थ भेजी गई। अपनी आत्मरचना में अब्बास ने लिखा है कि वे कहानी पर एक कुशल घड़ीसाज की मानिन्द काम करते हैं। वे चाहते हैं कि कथा रूपी घड़ी के तमाम 'ज्यूअल्स' दोषरहित हों। रोजी-रोटी

वे फ्रीलांस पत्रकारिता और फिल्मों में स्क्रिप्ट लिखकर कमाते थे किंतु कहानियां लिखते और फिल्में बनाते थे, केवल सृजन-सुख के लिए। 'सरदारजी' का हिन्दी अनुवाद माया (इलाहाबाद) में प्रकाशित हुआ। पाकिस्तान में अब्बास को इस्लाम विरोधी और भारत में सिख विरोधी करार दिया गया। अपनी आत्मरचना में अब्बास ने "प्रगतिशील साहित्य के खतरों" के सन्दर्भ में 'सरदारजी' को लेकर उठाई गई मुश्किलों और तकलीफों की विस्तार से चर्चा की है। इस कहानी के साथ उन्होंने दो और चर्चित व विवादास्पद कहानियां—'बारह घंटे' और 'सरकशी' की भी चर्चा की है। 'सरकशी' की मुसलमान नायिका का परिवार से विद्रोह और हिन्दू युवक से विवाह का निर्णय लेना कुछ संकीर्ण मुसलमानों को नागवार गुजरा। उन्हें कहानी में इस्लाम का अपमान दिखाई दिया। काफिर से मुसलमान लड़की का विवाह! 'बारह घंटे' की अविवाहित अध्यापिका बीना को एक वृद्ध किन्तु लोकप्रिय क्रांतिकारी से सहानुभूति हो जाती है। क्योंकि वह बरसों बाद जेल से केवल एक रात के लिए रिहा किया गया है। नायिका एक बोल्ड कदम उठाती है और उसे अपना शरीर सौंप देती है। कट्टर पंथियों का आरोप था कि युवा हिन्दुओं की नैतिकता भ्रष्ट करने के लिए एक मुसलमान कहानीकार ने जानबूझ कर कुमारी हिन्दू नायिका से आत्मसमर्पण करवाया।

राजेन्द्रसिंह बेदी को 'अबाबील' और 'एक पायली चावल', कहानियां बेहद पसंद थीं। 'एक पायली चावल' एक श्रमिक स्त्री की सहिष्णुता और संघर्षशीलता को रेखांकित करती है। चूंकि घर में मुट्ठी भर चावल भी नहीं है और सरकारी अनाज की दुकान कई दिन बाद खुली है (और फिर जाने कब खुले)। गर्भवती दुर्गा 'क्यू' में खड़ी हो जाती है। प्रसवकाल निकट था परन्तु वह मोर्चे पर डटी रही और अन्त में एक हाथ में चावलों का थैला तथा दूसरे हाथ में नवजात पुत्र लेकर ही दुकान से बाहर आई। बकौल राजेन्द्र सिंह बेदी, लायम ओ' फ्लाहार्टी ने परिन्दों को लेकर कुछ सुंदर कहानियां लिखी हैं मगर अब्बास की 'अबाबील' उन पर बीस थी। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई इस कहानी के जरिए, डा. मुल्कराज आनन्द को कहानी-कला में एक नया मोड़ आने की पूर्व सूचना मिली (भूमिका-एन इन्ट्रोडक्ट्री लेटर : 'राइस एण्ड अदर स्टोरीज')। कथानायक रहीम खान में उन्हें एक अद्वितीय कथापात्र दिखाई दिया क्योंकि वह सामन्ती समाज के स्वीकृत ढांचे को तोड़कर व्यक्ति की सत्ता कायम करने का प्रयास (असफल ही सही) करता है। पुराने समाज की रूढ़ियों, हिंसा, संहिताओं, निषेधों व नियंत्रण के खिलाफ आक्रोश प्रकट करने के लिए वह पत्नी, बच्चों और बैलों की अक्सर पिटाई किया करता था। दरअसल परपीड़न उसके प्रोटेस्ट का नकारात्मक रूप था। 'गेहूं और गुलाब' नामक कहानी में वे 'अभिजात्य' तथा 'सुहागरात' में सामाजिक विषमता पर इनडाइरेक्ट टिप्पणी करते प्रतीत होते हैं।

जिन आलोचकों को उनके कृतित्व में, साहित्य के छद्मवेष में पत्रकारिता

दिखाई देती थी, सम्भवतः उन्हें जवाब देने के लिए ही अपनी आत्मरचना में उन्होंने पत्रकारिता और साहित्य की अभिन्नता तथा फिल्मों पर पत्रकारिता के प्रभाव पर टिप्पणियां की हैं। वे पत्रकारिता को साहित्य से अलग करने वाली किसी भी सूक्ष्म सीमा रेखा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी कि श्रेष्ठ, कल्पनाशील जीवन्त पत्रकारिता और यथार्थवादी सोद्देश्य समकालीन साहित्य में कोई भेद नहीं होता। प्रमाणस्वरूप वे निम्नांकित दो उदाहरण देते हैं—(1) साम्यवाद के (धर्म) ग्रन्थों के स्रोत उन डिस्पैचेज में ढूंढ़े जा सकते हैं जो संवाददाता की हैसियत से कार्ल मार्क्स ने, 'न्यूयार्क हैरल्ड ट्रिब्यून' के लिए भेजे थे। (2) हेमिंग्वे और स्टीनवेक ने अपनी मास्टरपीस कृतियां पत्रकारिता के क्षेत्र में अर्जित अनुभवों के आधार पर रचीं। 'फार हूम द बेल टॉल्स?' की रचना के लिए, हेमिंग्वे ने कच्चा माल, स्पेन के गृह-युद्ध से हासिल किया था, जिससे वे योद्धा और संवाददाता के रूप में सम्बद्ध थे। 'ग्रेप्स आव रैथ' के लिए स्टीनबेक ने रचना सामग्री अमेरिका की खाक छानने के दौरान बटोरी, जब वे पत्रकार की हैसियत से 'ग्रेट डिप्रेशन' के कारणों का पता लगा रहे थे। उक्त दोनों कृतियां आधुनिक अमेरिकी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। फिल्मों पर पत्रकारिता के प्रभाव के सन्दर्भ में अब्बास ने कला फिल्मों के मसीहा सर्जी आईसेन्स्टीन, त्रुफो, माइकेल एंजिलो तथा गोदार का हवाला दिया है। फिल्मकार बनने से पहले आइसेन्स्टीन पत्रकार थे। वे पैम्फलेट भी लिखा करते थे और सिनेमा के पोस्टर भी बनाते थे। अवांगार्द सिनेमा की परिकल्पना को मूर्त रूप देने से पहले त्रुफो और गोदार फिल्मी समीक्षक-सम्पादक थे और 'कनवेंशनल सिनेमा' की समीक्षाओं में धज्जियां उड़ाया करते थे। फिल्मकार बनकर सिनेमा की दुनिया में उन्होंने 'न्यू वेव' द्वारा हलचल पैदा कर दी। इतालवी फिल्मकार माइकेल एंजिलो कहानियां, अखबारी लेख और फिल्म समीक्षाएं लिखा करते थे।

अब्बास का पहला उपन्यास 'इन्कलाब', 1945 में छपा था। उर्दू और अंग्रेजी, दो भाषाओं में लिखा गया यह उपन्यास, रूसी में 'सन ऑव इण्डिया' शीर्षक से अनूदित हुआ। इस उपन्यास की रूस में 90,000 प्रतियां बिकीं। जर्नलिस्टिक लिटरेचर, लिटरेरी जर्नलिज़्म, स्क्रीनप्ले के लिटरेरी स्टेटस पर अमेरिका में तथा लिटरेरी सिनेरियो पर रूस में चली बहसों में अब्बास ने गहरी रुचि ली थी। यह आकस्मिक नहीं था कि इस दशक के आरंभ में उन्होंने एक उपन्यास 'साहिल और समन्दर' लिटरेरी सिनेरियो की 'फार्म' में लिखा। 'इप्टा' के लिए उन्होंने नाटक भी लिखे। उनके पहले नाटक 'जुबैदा' का निर्देशन बलराज साहनी ने किया था। चेतन आनन्द और देव आनन्द ने इस नाटक में अभिनय किया था। समाज सेवा की खातिर इस नाटक की युवा नायिका बुर्का पहनना छोड़ देती है।

देवनागरी लिपि के माध्यम से उर्दू को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अब्बास ने 'सरगम' नामक पत्रिका भी निकाली थी। 1941 में उन्होंने 'नया संसार' की

पटकथा लिखी। राजकपूर के लिए उन्होंने आवारा, श्री 420, मेरा नाम जोकर, बॉबी आदि बहुचर्चित फिल्में लिखीं। शांतराम की प्रसिद्ध फिल्म 'डा. कोटनीस की अमर कहानी', उनके उपन्यास 'एण्ड वन् डिड नॉट कम बैक' पर आधारित थी। 'नया संसार' में आदर्शवाद और व्यवहार-कुशलता के छोरों के बीच झूलते रिपोर्टर का मानसिक द्वंद्व उभारा गया था। 'आवारा' ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाई। 'आवारा' की कहानी भी सत्य घटनाओं पर आधारित थी। अब्बास के चाचा, जो सेशन जज थे, कुलीनता, आनुवांशिकता में यकीन रखते थे। एक दिन उनका पुत्र डकैती और चोरी के आरोप में उनके सामने पुलिस द्वारा पेश किया गया। इस घटना ने अब्बास की कल्पना में 'आवारा' के थीम को उकेरा। 'आवारा' की थीम के केन्द्र में एक प्रश्न था—कौन गढ़ता है मनुष्य की नियति, आनुवांशिकता या परिवेश?

यद्यपि अब्बास ने हिन्दी सिनेमा की बॉक्स-आफिस पर अपार लोकप्रियता और सफलता अर्जित करने वाली अविस्मरणीय फिल्में—राजकपूर के लिए 'आवारा' और शांताराम के लिए 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी'—लिखीं किन्तु एक फिल्मकार के रूप में घोर यथार्थवादी, प्रयोगधर्मी फिल्में बनाईं। फार्मूला फिल्मों के पलायनवाद से वे हमेशा बचते रहे। 41 वर्षों के फिल्म-निर्माण कार्य में उन्होंने स्वयं को प्रवर्तक, पथ-प्रदर्शक, धर्मयोद्धा, प्रगतिशील मूल्यों के अन्वेषी के रूप में प्रतिष्ठित किया। धरती के लाल, अनहोनी, मुन्ना, परदेसी, शहर और सपना, दो बूंद पानी, बंबई रात की बाहों में, नक्सलाइट्स, फासला, हमारा घर, सात हिन्दुस्तानी उनकी उल्लेखनीय फिल्में हैं। नक्सलाइट को इतालवी फिल्म महोत्सव में स्वर्ण पदक मिला था। 'शहर और सपना' को राष्ट्रपति पदक दिया गया। इस फिल्म को चेकोस्लोवाकिया, स्पेन और अमेरिका में भी पुरस्कृत किया गया। 'दो बूंद पानी' और 'सात हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रीय एकता के सन्देश के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार दिया गया।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी ख्वाजा अहमद अब्बास को सन् 1968 में उनकी अमूल्य सेवाओं के लिए पद्मश्री से अलंकृत किया गया था। साम्प्रदायिक दंगों की बारम्बारता और प्रभाव क्षेत्र के विस्तार में होती रही वृद्धि तथा पंजाब की दुर्दशा के सन्दर्भ में अब्बास की अनुपस्थिति प्रत्येक प्रगतिशील भारतीय बुद्धिजीवी को एक अपूर्णीय क्षति का अहसास दिलाती रहेगी क्योंकि उनकी कहानी 'सरदारजी' आज पहले से कहीं ज्यादा प्रासंगिक प्रतीत होती है।

हिंदी के अधिकांश चर्चित साहित्यकार फिल्मों में लिखना चाहते हैं। कमलेश्वर आदि लिख भी रहे हैं। आपने इस माध्यम को क्यों नहीं अपनाया?

आदर्शवादिता एक कारण हो सकती है। 1954 में इंगलैंड से लौटने पर मुझे फिल्मों में गीत लिखने के आफर मिले थे। एक गीत लिखकर उन दिनों मैं एक कार खरीद सकता था। मुझे पैसों की जरूरत भी थी। किंतु मैंने सभी आफर ठुकरा दिए। मुझे गीत लिखने के लिए उत्स चाहिए था, ऊर्जा चाहिए थी, रुपया नहीं। कृत्रिम परिस्थितियों से मजबूर होकर फिल्मों के लिए लिखना मेरे बस की बात नहीं है। हिंदी या साहित्य सेवा के लिए भी मैंने कभी नहीं लिखा। संगीतकार जयदेव ने फिल्म *'आलाप'* में जेसूदास की आवाज में मेरा गीत *'कोई गाता, मैं सो जाता'* लिया है। फिल्म-लेखन से मेरी कीर्ति में, अब क्या कुछ इजाफा हो सकता है?

मैं उनके सवाल के उत्तर में खमोश रहा। वह मुस्कराए और गुनगुनाने लगे—*कोई गाता, मैं सो जाता*। वे गाते रहे मैं सुनता रहा। गीत खत्म होने पर कुछ क्षण मैं मौन साधे रहा फिर अगला सवाल उनसे पूछा।

क्या काफ्का की तरह साहित्य आपके अस्तित्व की बुनियादी शर्त है।

मैंने काफ्का को नहीं पढ़ा। इसलिए मैं काफ्का से अपनी तुलना नहीं कर सकता।

कविता के डिक्शन के बारे में आपके प्रतिमान क्या हैं?

डिक्शन के बारे में मैंने शायद ही कभी सोचा हो। डिक्शन से ज्यादा मैंने कवि के व्यक्तित्व के बारे में सोचा है। कवि का व्यक्तित्व उसकी कविता के डिक्शन को निर्धारित करता है—बशर्ते कि कविता सहज रूप में आए। सहज कविता में वचनप्रवीणता या कृत्रिम कला नहीं होती। पंत जी की कविता वचनप्रवीणता की कविता है। उन्हें डिक्शन, डिक्शनरी से मिला है। डिक्शनरी को वह सिरहाने रखकर सोते हैं। जीवन को उन्होंने चिमटे से छुआ है। अंगारा उन्होंने हथेली पर नहीं रखा। शब्दावली उन्हें जिंदगी से नहीं, किताब से मिली है। मैं शब्दावली जिंदगी से लेता हूं। सरल होना साधना है।

इस संदर्भ में भवानीप्रसाद मिश्र पर कुछ कहेंगे?

भवानी की कविता का डिक्शन, डायलॉगिक डिक्शन है। खड़ी बोली के 'रिद्म' को उन्होंने खूब पहचाना है।

कविता का कविताभ्यास से क्या संबंध है?

सहज अभिव्यक्ति हमेशा कविता नहीं होती। कुत्ते का भौंकना भी सहज है। मगर वह कला नहीं है। आपने सर्कस में किसी जिमनास्ट को देखा होगा। अपने जिस्म को सहजता से तोड़-मरोड़कर वह अपनी कला का प्रदर्शन करता है। किंतु इस लचीलेपन को अर्जित करने के लिए उसका सालों का अभ्यास काम कर रहा होता है। यही बात कविता-कला पर लागू होती है 'यू हैव टु मेक एफर्ट टु बी नेचुरल, टु द एक्सटेंट दैट युवर एफर्ट शुड एपीयर टु बी एफर्टलेस'। यही साधना काव्याभ्यास कहलाती है।

कविता में विचार का क्या कोई अलग अस्तित्व है?

नहीं। कविता में विचार एवं भावना हमेशा विद्यमान रहते हैं। कभी भावना प्रबल होती है तो कभी विचार कविता पर हावी हो जाता है। भावना में बहना नदी में बहने की तरह है और बुद्धि का अनुसरण पहाड़ पर चढ़ने जैसा। भावना, विश्वास मांगती है और बुद्धि सतर्कता। अब समय बदल गया है। यह युग बौद्धिकता का है। इसलिए गीत को इंटेलेक्चुअल पोयट्री ने विस्थापित कर दिया है।

कविता की समझ का अनुभव संपन्नता से क्या कोई संबंध है?

काव्यानंद की अनुभूति की तीव्रता या कविता की समझ की गहराई इस बात पर भी निर्भर होती है कि अभिव्यक्ति किस स्तर पर काम कर रही है? यानी कि वह मात्र सूचनात्मक है या संप्रेषण की खूबियों को लेकर चल रही है अथवा पाठक-श्रोता में कवि का अहसास जगा रही है। अभिव्यक्ति महान कविता में उद्बोधनात्मक स्तर को छूती है। इसके लिए पाठक-श्रोता का कवि की तरह अनुभवसंपन्न होना जरूरी है।

कृति की सफलता आप इसमें मानते हैं कि वह लोगों को छेड़े, परेशान करे, बेचैन करे—इस दृष्टि से आपकी कौन-सी रचना आपको सर्वाधिक प्रिय है?

'मधुशाला' एवं *'निशा निमंत्रण'*। मेरे युग में उल्लास जितना ऊंचा उठ सकता था, *'मधुशाला'* में उठा और अवसाद जितना नीचे जा सकता था, *निशा निमंत्रण'* में गया। दोनों कृतियां लंबे समय तक जीवित रहेंगी। इन दोनों कृतियों में जिजीविषा है। अंततः पाठक को इनकी जरूरत काफी अर्से तक महसूस होती रहेगी।

जिजीविषा से आपका क्या अभिप्राय है?

वह कौन-सी ताकत है कि कालिदास की रचनाएं डेढ़ हजार वर्षों एवं शेक्सपियर की कृतियां चार सौ साल बाद भी जिंदा हैं? महान कविता में जीने की इच्छा होती है। भिन्न काल खंडों में भिन्न पाठकों को इसके अलग-अलग अर्थ आकर्षित करते हैं।

कलिदास, शेक्सपियर से 1200 साल पहले कालजयी साहित्य लिख चुके थे। इसके बावजूद अक्सर यह क्यों सुनाई पड़ता है—कालिदास हिंदुस्तान के शेक्सपियर हैं?

इसका सीधा संबंध मानसिक गुलामी से है।

अकविता और अगीत के बारे में आपकी राय ?

रवींद्रनाथ के प्रभाव में बंगला कविता को मुक्ति दिलाने के लिए कुछ कवियों के अश्लील शब्दावली का सहारा लिया था। यह जरूरी था वर्ना बंगला कविता 'स्टैगनेट' हो जाती। हिंदी की अकविता का उद्देश्य भी कविता के चालू सांचों को तोड़ना था। जिस प्रकार नवगीत, नई कविता की प्रतिक्रिया है, उसी प्रकार अगीत अकविता की प्रतिक्रिया मात्र है।

हाल ही में आपके समूचे गद्य लेखन पर जोशी जी की आलोचनात्मक पुस्तक *'गद्यकार बच्चन'* के शुरू में एक सूक्ति है....*गद्यं कवीनां निकषं वदंति*। इस पर आप कुछ कहना चाहेंगे?

पुराने लोगों की कही हुई बात है। इसमें अनुभव है। इसलिए मैं इसे मान लूंगा। गद्य में स्वतंत्रता है, कविता में बंधन। अभिव्यक्ति के जो गुण कविता में स्पृहणीय हैं, वही गद्य के लिए भी स्पृहणीय हैं।

जीवन जीना अपने आप में काफी है...ऐसा आपने कहा है। इससे आपका अभिप्राय? क्या सृजन भी जीने की प्रक्रिया मात्र है?

सृजन भी जीने का ही अंग है। लेकिन यदि सृजन न हो तो क्या जीवन जिया नहीं जाता? बहुत-से लोग कविता जीते हैं, लिखते नहीं। वे कविता पढ़ते-सुनते हैं। कविता जिंदगी की जरूरत है, फर्ज नहीं। जीवन जीना अपने आप में बहुत बड़ी चीज है। 'कॉस्मॉस' आपसे क्या काम लेना चाहता है, आप कैसे जान सकते हैं?

आपातकालीन स्थिति के दौर में अच्छे साहित्य की रचना नहीं हो सकती?

राजनीति दरअसल 'राजनीति' है। इसे सही-सही समझ पाना आम आदमी के लिए कठिन है। अतः शीघ्र ही कुछ भी राजनीतिक निर्णयों और आपातकालीन स्थितियों के बारे में नहीं कहा जा सकता। आपातकालीन स्थिति को अनुशासन पर्व की संज्ञा देकर विनोबा जी ने बहुत बड़ी बात कही थी। ऐसे दौर में बेहद अच्छा साहित्य रचा जा सकता है। समर्थ कवि हर दौर में अपनी बात कहता है। असमर्थ लोग शिकायत करते फिरते हैं। अकबर के जमाने में भी तुलसीदास ने अपनी बात कही ही थी।

आपातकालीन स्थिति में साहित्य का दाय?

अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करना साहित्यकार का फर्ज है, किंतु असामान्य परिस्थितियों में समाज के अनुशासन को समझना एवं स्वीकारना जरूरी है। आपातकालीन मानस को समझकर, आपद्धर्म को अपनाकर मानस को सही रास्ते पर लगाना ही इमरजेंसी में साहित्यकार का दाय हो सकता है।

ढाई अक्षरों की कविता

अमृता प्रीतम की कविता की दुनिया, आत्मीय बातचीत के लहजे की दुनिया है और इस बातचीत में शामिल औरत से "बीते और ठहरे क्षणों के साथ सच", पूरी नज्म पर लकीर फेरने की यातना "बदन से बेगाने जख्म को भूलने की जरूरत", "आजाद रूह की झलक की शिनाख्त", "सिगरेट की तरह चुपचाप दर्द पीने" की जिद के बारे में "बहुत कुछ" और युद्ध, अन्याय, शोषण, समाज, राजनीति, इतिहास के बारे में भी 'थोड़ा-बहुत' सुना जा सकता है। बुनियादी तौर पर अमृता प्रीतम की कविता मानवीय प्रेम की परिक्रमा करती है। इसके मनोवैज्ञानिक कारणों को समझना मुश्किल नहीं। शुरू में बचपन के अकेलेपन ने उन्हें आत्मचिंता और आत्मप्रेम से जोड़ा मगर चेतना के विस्तार के साथ-साथ, सूफी कविता में व्यक्त दर्शन के प्रभाव से उनके सरोकार मानवीय प्रेम की व्यापकता से जुड़ते चले गए। जटिल प्रतीकों, दुरूहता, दार्शनिक मुद्राओं और क्रांतिकारी तेवरों से मुक्त, सतही तौर पर रूमानियत से ग्रस्त दीखने वाली उनकी कविता दरअसल प्रेम और अध्यात्म के संबंधों को पहचानने की एक ईमानदार कोशिश है। यही कोशिश उन्हें—भक्तिमार्गी मीरा और रहस्यवादी/छायावादी महादेवी वर्मा से अलग कवि-व्यक्तित्व प्रदान करती है। उनके व्यक्तिगत अनुभव से संबद्ध जद्दोजहद से भरी विवादास्पद जिंदगी का 'तनाव', औरत को हेय दृष्टि से देखने वाले रूढ़िग्रस्त समाज के प्रति तूफानी रोष और प्रतिवादजन्य 'आक्रामकता' उनके कवितानुभव में रूपांतरित होते वक्त, ध्रुवांतरण की प्रक्रिया से भी गुजरते हैं और अंततः उनकी कविता में ममता, करुणा और प्रेम की शक्लों में दिखाई देते हैं। अमृता प्रीतम ने जिंदगी की तमाम कड़वाहट को प्रेम में विसर्जित कर, प्रेम के "ढाई अक्षर" पढ़े और गुने, मगर पंडित बनने के बजाय, "ढाई अक्षरों' की कविता लिखने में सिद्धि हासिल करने की कोशिश में अपनी उम्र के लगभग पांच दशक होम कर दिए।

दुबली-पतली, छोटे कद और रूपहले बालों वाली, 81 वर्षीया अमृता प्रीतम की आंखों की चमक का रिश्ता, उनकी उपलब्धियों की बजाय, उनके अकृत्रिम व्यवहार, आत्मीय मुस्कान और कामनीय प्रेम से उनकी संबद्धता की उज्ज्वल रोशनी से ज्यादा जुड़ता है। उनके अद्भुत व्यक्तित्व की चुबंकीयता से बच पाना नितांत असंभव है। वे मानवीय प्रेम की अप्रतिम गायिका हैं और कविता में इसकी श्रेष्ठ

अभिव्यक्ति के लिए वे समय-समय पर पुरस्कृत, सम्मानित और अलंकृत भी की जाती रही हैं। पंजाबी में उत्कृष्ट काव्य रचना के लिए 1956 में उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया। पुरस्कृत कृति थी—'सुनेहुड़े' अर्थात् पैगाम (1955)। 1969 में उन्हें पद्मश्री से अलंकृत किया गया। 1980 में उन्हें बल्गारिया ने अंतर्राष्ट्रीय निकोला वप्सारोव पुरस्कार से सम्मानित किया। उन्हें 1981 का ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया। हाल ही में उन्हें मिलेनियम अवॉर्ड से भी सम्मानित किया गया। मगर इन तमाम उपलब्धियों को अर्जित करने के लिए उन्हें संघर्षों के जिस दौर से गुजरना पड़ा, उसके खौफनाक अंधेरे उनकी कविता की दुनिया और उनकी दुनिया को कतई विकृत नहीं कर पाए। उन्होंने स्वयं को कभी कविता और आचरण के फर्क से उत्पन्न होने वाले नैतिक दोगलेपन का शिकार नहीं होने दिया। यह आकस्मिक नहीं कि उनकी कविता पढ़ते-सुनते हुए उनसे बात करने और उनसे बात करते हुए, उनकी कविता पढ़ने-सुनने का अहसास होता है। यह अहसास इस टिप्पणीकार को कई बार हो चुका है। मगर 14, मई 1982 की शाम को एक मुलाकात के दौरान मेरे अतिरिक्त प्रसिद्ध समाज विज्ञान कवि डॉक्टर श्यामसिंह 'शशि' और बर्मी कथाकार श्री चंद्रप्रकाश प्रभाकर को भी लगभग दो घंटे तक यह अहसास होता रहा। उक्त मुलाकात में अमृता प्रीतम जी से साहित्य, राजनीति और जिप्सियों पर विस्तृत बातचीत तो हुई ही, उन्होंने गंभीर आवाज में कुछ चुनिंदा कविताएं भी सुनाईं। प्रस्तुत हैं उक्त बातचीत के कुछ अंश—

बात पुरस्कारों से ही शुरू की जाए। राजनैतिक दखलंदाजी, चयन समिति के सदस्यों के निहित स्वार्थों व पूर्वाग्रहों और साहित्यिक गुटबंदी के कारण पुरस्कारों की गरिमा अक्सर खंडित होती आई है। विभिन्न भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों के इतिहास के कई पन्ने पुरस्कृत कृतियों के स्तर और पुरस्कार-विजेता रचनाकारों की पात्रता की विवादास्पदता से काले हो चुके हैं। नोबेल पुरस्कार ठुकरा कर सार्त्र ने शायद इसी भयावह सच्चाई की ओर इशारा किया था 1980 में बल्गारी अंतर्राष्ट्रीय निकोला वप्सारोव पुरस्कार और अब 1981 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किए जाने पर आपकी क्या प्रतिक्रिया रही। पुरस्कार राशि की अनुपस्थिति में भी क्या आप उतनी ही संतुष्ट होतीं जितनी कि अब हैं?

आपकी बात ठीक है। अक्सर ऐसा भी होता है कि बगैर किसी राजनीतिक दखलंदाजी के भी पुरस्कार जीते जाते हैं। किसी भी पुरस्कार को पाने की मैंने तो कभी भी कोई कोशिश नहीं की। जिन्होंने भी मुझे पढ़ा और जाना है वे मुझ पर कोई आरोप नहीं लगाएंगे। हां, प्रतिस्पर्धियों की ईर्ष्या का तो कोई इलाज नहीं है। रही तसल्ली की बात; मेरे विचार से तो आदमी को खुद अपने सामने होना पड़ता है और तसल्ली अपने "स्व" के आइने में तलाशनी पड़ती है; बाहर नहीं। खुद के आइने में से उपलब्ध की गई तसल्ली ही सही मायनों में तसल्ली होती है। खाली बाहर के स्टैम्प लगवा लेने से इंसान को कैसे तसल्ली मिलती है—मैं नहीं

समझ पाती? धन भी साधन है साध्य नहीं।

पुरुष-प्रधान समाज में अगर कोई महिला रचनाकार कला और संस्कृति से जुड़कर समाज में अपनी पहचान बनाना चाहती है तो उसे दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। आपने यह लड़ाई कैसे, किस माध्यम से लड़ी।

जी हां, दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। एक वो जो बौद्धिक धरातल पर हर साहित्यकार लड़ता है और दूसरी वो जो औरत होने की वजह से उसकी नियति बन चुकी है। इस लड़ाई का बहुत लंबा इतिहास है। मेरी एक किताब अभी, इसी सप्ताह छपी है—''कड़ी धूप का सफर'' इसमें मैंने ऋग्वेद (जिसके संकलन में 27 औरतों ने हिस्सा लिया) के युग की गार्गी से लेकर आधुनिक युग की कई महिला रचनाकारों (यों रचनाकार सिर्फ रचनाकार होता है, पुरुष या नारी नहीं) की जद्दोजहद को व्यक्त किया है। मसलन ''ग्रीस'' की ''सैफो'' को अपनी कविताओं के कारण जलावतन होना पड़ा। जापान का सबसे पहला उपन्यास एक औरत ने लिखा मगर उसे अपना नाम छुपाना पड़ा। उपन्यासकार के रूप में उपन्यास के मुख्य पात्र का नाम दे दिया गया। कई महिला रचनाकारों को आत्महत्या भी करनी पड़ी। ऐसे कुछ संदर्भ व कुछ कविताएं मेरी किताब में शामिल हैं। स्त्री-संघर्ष का यह सिलसिला जारी है। मुझे ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने की खबर अपने देशवासियों तक पहुंचाने के लिए स्पानी दूरदर्शन वाले कुछ दिन पहले मुझसे मिलने आए। मुलाकात के दौरान अनौपचारिक बातचीत में उन्होंने बताया कि पुरुष-प्रधान स्पानी समाज में औरत जूझ रही है। उसका कड़ा संघर्ष अभी भी जारी है। क्या हिंदुस्तान में भी यही स्थिति है। मैंने कहा—यहां औरत की जद्दोजहद कुछ ज्यादा ही है, कम नहीं।

कविता की दुनिया, आपको मानवीय प्रेम की अप्रतिम गायिका के रूप में पहचानती है। आपकी कविता में किसी चिंतक, दार्शनिक अथवा समाज सुधारक की मुद्राएं बिल्कुल गायब हैं। अपनी कविता में आप भावना के जरिए ''कॉज़्मिक अवेयरनेस'' तक पहुंचने की कोशिश करती नजर आती हैं। मीरा ने यह कोशिश भक्ति और महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद के जरिए की। आपने ये रास्ते क्यों नहीं अपनाए?

प्रेम कोई छोटा लफ्ज नहीं है। दरअसल प्रेम एक बुनियाद है जिसकी एक्सटेंशन्स हमें भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती हैं। मेरी एक किताब का नाम है....''मैं जमा तू''। जिसमें एक शामिल हुआ। उसे महबूब का दर्जा दे डालिये। उसी का दूसरा हिस्सा है—''मैं जमा दुनिया'', जिसमें दुनिया शामिल हुई। ये 'मैं' की ही एक्सटेंशन है, मगर 'मैं' वो बिंदु है जिसकी रिअलाइजेशन खुद को ही करनी पड़ती है। यह रिअलाइजेशन होने पर ही दुनिया शामिल होगी। लोग दुनिया का नाम तो लेते हैं मगर उसमें 'मैं' को शामिल नहीं करते। लिहाजा बात सतही होकर रह जाती है। बात हाथ में पकड़े झंडे की तरह होनी चाहिए—पार्ट आफ द बीइंग। दुनिया कितनी भी बड़ी हो—दैट इज द पार्ट ऑफ यूअर ओन वे। जब तक यह अहसास नहीं होगा तब तक तो सही मायनों में न तो दर्द व्यक्त हो पाएगा और

न अर्थ की प्रतीति हो पाएगी। कुछ अर्सा पहले मैंने अपनी पत्रिका "नागमणि" का एक अंक निकाला था जिसकी एक कथा थी—चौथा कमरा। जब औरत मर्द की जिंदगी में दाखिल होती है तो घर के दो कमरे उसके लिए खोल दिए जाते हैं—(1) किचन और (2) बेडरूम। इन्हीं दो कमरों के लिए औरत की तलाश की जाती है। शादी की बुनियाद भी यही दो कमरे हैं। अगर औरत हसीन और एजूकेटेड है तो उसके लिए तीसरा कमरा भी खुल सकता है। हर समय नहीं लेकिन गाहे बगाहे। इस तीसरे कमरे को ड्राइंग रूम कहा जाता है, जिसमें औरत एक इंसान या 'इंडिविजुअल' की हैसियत से दाखिल होती है, बतौर औरत नहीं। 'डेकोरेटिव पीस' की मानिंद-ए व्यूटीफल कल्चरल फर्नीचर ऑफ द ड्राइंग रूम। घर का चौथा कमरा मैं उसे मानती हूं जिसमें दो दिल एक होते हैं; टू माइंड्स यूनाइट, जिसमें उनके सपने जन्म लें, काम पूरे हों; आर्थिक, इंटेलेक्चुअल या किसी भी मसले पर वो मिलकर सोच सकें। सोलह/सत्रह/अठारह कमरों वाले घरों में भी चौथा कमरा नहीं होता। सो बात चौथे कमरे की है। जब यह घर का हिस्सा बन जाएगा, समाज के कई सवाल हल हो जाएंगे।

आपकी कविता की दुनिया आत्मीय बातचीत के लहजे की दुनिया है। आपकी कविता पढ़ते/सुनते हुए/आपसे बात करने और आपसे बात करते हुए आपकी कविता पढ़ने/सुनने का अहसास होता है—मानो लिखते वक्त आपकी कल्पना में कोई पाठक/श्रोता रहता हो, जिसे पास बिठाकर आप बातचीत करती रहती हों। काव्यकला के इस उत्कर्ष में क्या आपकी इमोटिव भाषा का भी हाथ है?

लिखते वक्त मैं अकेली होती हूं—खुद ही लेखक होती हूं और खुद ही पाठक/श्रोता। कोई और पाठक/श्रोता मेरे सामने नहीं होता। मैं खुद से बात करती हूं। खुद से बात करने का अर्थ है उससे संवाद कायम करना जो आपसे या जिससे आप आइडेंटीफाइ कर जाएं। पिछले दिनों मैं एक नावल लिख रही थी....तेरहवां सूरज। उसका एक किरदार एक लेखक, लिखते-लिखते सो जाता है। कागज उसकी मेज पर पड़े हैं। मैं नहीं जानती मैंने कितना उससे खुद को आइडेन्टीफाइ किया कि जब मैं सो गई तो मुझे लगा कि मेरी मेज पर जो कागज पड़े हुए थे वो उड़कर नीचे जा गिरे और अक्षर कागजों से छिटक कर दूर जा गिरे। सपने में मैं उठकर, घबराकर अक्षर बीनने लगी। काले-काले बीजों की तरह वे मानों जमीन पर बिखरे पड़े थे। किसी गिरी हुई चीज की तरह दाएं हाथ से अक्षर चुनकर मैंने बाएं हाथ पर रखे। मेरा बायां हाथ देखते-देखते मिट्टी का हो गया—गीली मिट्टी का। बीने गए अक्षर-बीजों को फिर मैंने दाएं हाथ के अंगूठे से बाईं हथेली में बो दिया। फिर देखती हूं कि दायां हाथ भी मिट्टी का हो गया है और बाएं हाथ की उंगलियों से अक्षर उठाकर उसमें भी बो दिए। कितना वक्त गुजरा, पता नहीं, सपने में वक्त का अंदाजा नहीं हो पाया। देखती हूं कि दोनों हाथों में लाल-लाल फूल उग आए

जिन्हें देखकर मैं हैरान होती हूं। हैरानी से नींद खुल गयी। हाथ देखती हूं वैसे ही हाथ हैं जैसे होते हैं—अच्छे खासे, नरम, मांसल। मालूम नहीं ये हाथ नार्मल हैं या वो नार्मल थे। हथेलियों में उगे छोटे-छोटे लाल फूलों वाले सपने को मैंने उपन्यास में उसी किरदार से जोड़कर डाल दिया—मेरे किरदार का सपना। मुझे लगा कि सपना आना तो किरदार को चाहिए था मगर उसकी जगह आया मुझे। पता नहीं चलता कि कितना कुछ अपना हम किरदार को देते हैं और कितना कुछ किरदार का लेते हैं। जहां तक कविता की भाषा का सवाल है तो आप जानते ही हैं कि भाषा कैसी बनी। इन्सान के भीतर वाइब्रेशन्स हैं, जिनकी संख्या पचास मानी गई है। इन्हीं 50 'वाइब्रेशन्स' से 50 अक्षर बने, संस्कृत भाषा की बुनियाद पड़ी। इन कम्पनों के साथ आप एक हो जाइए। बात फिर वहीं जायेगी—"सेल्फ-रिअलाइजेशन" (आत्मज्ञान) पर। अहसास के कम्पनों को पकड़िए। यही अहसास अक्षरों का रूप लेता है, ढल जाता है गोलाई में या लकीरों में।

हिंदी में आप कविता के जरिए कम व 'पिंजर' और 'डॉ. देव' जैसे चर्चित तथा लोकप्रिय उपन्यासों के जरिए ज्यादा जानी जाती हैं। इन उपन्यासों के प्रेरणास्रोतों को कहां तलाश किया जा सकता है?

जब देश की तकसीम हुई तो बहुत कुछ देखा। बहुत कुछ सुना। सुभाष चंद्र बोस की आजाद हिंद फौज के सेनानी शाहनवाज से मिलने का इत्तफाक हुआ। उनके पास रिपोर्टस आती थीं—कितनी औरतों से बलात्कार हुआ, कितनों का कत्ल हुआ। हर बलात्कृत और कत्ल की गई औरत मेरे लिए मानो जिंदा हो जाया करती थी। परिणामतः मैंने 'पिंजर' उपन्यास लिखा जिसके अंत में एक स्त्री का पात्र कहती है—कोई भी लड़की चाहे वो हिंदू हो या मुसलमान, जो भी ठिकाने पहुंच गई समझो पूरब की रुह ठिकाने पहुंच गई। डॉ. देव मेरे जेहन का था। मैं चाहती थी कि कोई ऐसा इन्सान जिंदगी में आता तो। उस तमन्ना से पैदा हुआ था "डॉ. देव"। यह पात्र मैंने कल्पना से गढ़ा था। तसव्वुर आखिर क्या है....यथार्थ की हद से थोड़ा-सा आगे? उसे हम यथार्थ की हद में लाना चाहते हैं। डॉ. देव की जो कल्पना मैंने की थी, मैं चाहती थी कि वो यथार्थ की हद में आ जाए। आप यह जानकर हैरान होंगे कि इमरोज का जब पहला फोन मुझे आया था तब मैं उन्हें जानती नहीं थी। उन्होंने फोन पर कहा—मैं डॉ. देव बोल रहा हूं। मैं हैरान हुई। फिर सोचा ऐसे ही किसी ने शरारत की होगी। मैंने फोन रख दिया। बाद में पता चला कि उन्होंने फोन गम्भीरता से किया था। डॉ. देव से उन्होंने खुद को पूरी तरह आइडेन्टीफाइ किया था।

काव्यरचना के अतिरिक्त कवितानुवाद में भी आपकी गहरी दिलचस्पी रही है। प्रसिद्ध भारतीय और विदेशी कवियों की कविताओं के ही नहीं मुझ जैसे युवा कवि की कविताओं के भी पंजाबी में अनुवाद किए हैं। क्या अनुवाद के जरिए एक सांस्कृतिक सेतु नहीं बनता?

जिस भी कवि की कविताएं मुझे अच्छी लगती हैं, मैं उसकी कविताएं अनूदित करती हूं और शौक से करती हूं। अनुवाद के जरिए "कल्चरल ब्रिज" बनता है और विदेशों में ... सही लोग भेजे जाएं तो अनुवादक की भूमिका का महत्त्व समझा जा सकता है। अक्सर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नाम पर बाहर जाने वाले लोगों (सभी नहीं मगर अधिसंख्य) के योगदान के बारे में कुछ भी सुनने को नहीं मिलता। विदेशों की सैर करने और वहां की संस्कृतियों की खोज करने में जमीन आसमान का अंतर होता है।

कवितानुवाद से क्या आपकी अपनी कविता के मुहावरे में कोई बदलाव आया? जब कोई कवि किसी महान अथवा सिद्ध कवि की कविता का अनुवाद करता है तो क्या उसकी अपनी कविता का भी परिष्कार होता है?

मुझे तो कवितानुवाद भी अपनी कविता की तरह लगता है। बात है किसी ने कह दी। जैसे आयन रैन्ड को पढ़ा तो लगा कि जो बात मैं कहना चाहती थी उसे ज्यादा स्पष्टता से बहुत थोड़े लफजों में आयन रैन्ड ने कह दिया। ऐडमिरेश्न, प्रशंसा का भाव मन में पैदा हुआ। दूसरे की कविता में अपनी पहचान मिली। बल्गारी शायरा एलिजावेथा बाग्रयाना की एक कविता पंक्ति है....."आइ एम द ब्लड-सिस्टर ऑव विन्ड, वाइन एन्ड वाटर"

—कितनी प्यारी है?

सूफी कविता की लोकगीतों की सहजता में आपकी कविता के प्रेरणास्रोत ढूंढ़े जा सकते हैं?

उन्होंने (डॉ. शशि की ओर इशारा करते हुए) अभी थोड़ी देर पहले प्रेम के ढाई अक्षरों का जिक्र किया था। कितनी व्यापकता है इन ढाई अक्षरों में! और एक पंजाबी लोकगीत की बानगी देखिए—"मैंनूं अम्बर दा लहंगा सिवादे/बनजारया वे/मैनूं धरती दी लौं लवा दे(मुझे आसमान का लहंगा सिला दे, धरती की किनारी लगा दे—ओ बनजारे!) अगर अम्बर के लहंगे पर धरती की किनारी लगे तो देखिए कबीर के ढाई अक्षर कहां पहुंचते हैं? कविता है ही अध्यात्म। अध्यात्म कोई बाहर की चीज नहीं। हाशिम का कहना है—"उन्होंने खुदा को पहचान लिया।" भाई वीरसिंह की पंक्तियों का जायजा लीजिये—"आप तो सिर्फ़ रोशनी थे, हाथ नहीं छू पाए; हमारी कलाई कांपती रही।' वारिसशाह ने लिखा था—हीर आत्मा है और राझां जिस्म। पूरनसिंह ने इसी को एक नई डाइमेन्शन दी—बहन हीर/भाई रांझे! हमें छोड़कर मत जाओ/आपके बगैर हम खाली हो जाएंगे।

"कागज और कैनवस"—इस शीर्षक की क्या अर्थवत्ता है?

कैनवस से मेरा मतलब उससे है जो तखय्यल में आता है—'इलस्ट्रेशन्स' की मानिन्द। अपने ही पात्र अपने सामने साकार हो जाते हैं, खुद को दिखाई देते हैं। मेरा एक दुखान्त उपन्यास है—"आलना' (हिन्दी में वेश्या)। उसकी एक पात्र है—नीना। मुझे सपना आया कि वो रो रही है, जोर-जोर से रो रही है। काल्पनिक

पात्र होते हुए भी जैसे मैं उसकी शक्ल को पहचान रही थी। उसने रोते-रोते मुझसे कहा—तूने मेरा अंत ऐसा क्यों किया? मैं जीना चाहती थी यानि कि, मेरा ही किरदार मेरे ही नावल को कन्डेम कर रहा है, पूछ रहा है तूने ऐसा क्यों किया? आप जनते हैं कि टालस्टाय ने जब ''अन्ना कारनीना'' लिखा तो वे मन की ख़ुश हालत में नहीं थे। जब नावल छपने लगा तो वे परेशान हो गये। ये नावल मुझे नहीं लिखना चाहिये था। मैंने ऐसे क्यों लिखा? अगर लिख लिया था तो इसे छपना नहीं चाहिये था।'' इस दर्द को बाद में डी.एच. लारेंस ने पहचाना। उन्होंने लिखा कि इस उपन्यास में यथार्थ है। लेकिन ये उस जिन्दगी की बात नहीं है जो जीने के काबिल हो। अन्ना कारनीना का दुखान्त एक शानदार मुहब्बत का दुखान्त नहीं है, वो दो कायर व्यक्तियों का दुखान्त है। ''अन्ना कारनीना'' से मुहब्बत करने वाला महबूब नहीं, एक सरकारी अफसर है इसलिए डी. एच. लारेंस ने लिखा—ये उपन्यास नहीं लिखा जाना चाहिए था। खाली यथार्थ की बात करना कोई बात नहीं है। वो छोटे स्तर का लेखन है, जब तक जिन्दगी की, जीने के काबिल जिन्दगी की बात न की जाये। मंटों ने भी यथार्थ लिखा था मगर ऐसे लिखा जैसे उसका एक टांका उधेड़ देना चाहते हों। काफ्का का यथार्थ घबराहट पैदा करता है। वो आतंक की रचना करते हैं। मगर, यथार्थ में लज्जत लेने वाला—प्रॉडक्ट ऑव ब्रूडिंग इमैजिनेशन, दूसरों को तकलीफ देकर तसल्ली ढूंढ़ना विकृत ''मैं' की बात है।

मैं अपने समय में जीना चाहता हूं

नववर्ष (1982) की पूर्व-सन्ध्या। नये साल के स्वागत की तैयारियों में व्यस्त दिल्ली की गहमागहमी से दूर आकाशवाणी भवन की पांचवीं मंजिल पर, दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक के कमरे में, प्रख्यात कथाकार उपन्यासकार कमलेश्वर से मेरी बातचीत हो रही थी। साहित्य, सिनेमा, दूरदर्शन और जिन्दगी के महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर हुई उस बातचीत के दौरान मेरे दो दोस्त डॉ. प्रेमशरण शर्मा और हरि प्रकाश त्यागी भी (बतौर गवाह) वहां उपस्थित थे। बातचीत के कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं:

प्रश्न : आपने अभिव्यक्ति के कई माध्यमों—उपन्यास, कहानी, नाटक, यात्रा, संस्मरण, सिनेमा, दूरदर्शन आदि का सहारा लिया। इसके क्या कारण रहे?

उत्तर : साहित्य मेरा आधारभूत माध्यम है, आधारभूत! विज्ञान और टेक्नॉलोज़ी के इस युग में सिर्फ किताबों तक हम स्वयं को रोक नहीं पाएंगे। अभिव्यक्ति हम केवल अभिव्यक्ति के लिए नहीं कर रहे बल्कि जनता तक पहुंच सकने के लिए कर रहे हैं। इसके लिए जो भी माध्यम है, मैं उसका इस्तेमाल करने के लिए तैयार हूं।

प्रश्न : शब्द, दूरदर्शन और सिनेमा, इनमें से किसके जरिए आपको सबसे ज्यादा सफलता मिली या फुलफिलमेंट का अहसास हुआ?

उत्तर : फुलफिलमेंट का कोई सवाल अभी मेरे सामने नहीं है। जब तक आदमी सफर में होता है, तब तक मंज़िल का सवाल नहीं होता। मैं अभी किसी मंज़िल पर नहीं पहुंचा हूं, मगर इसका ये मतलब नहीं कि मुझे अपनी मंज़िल मालूम नहीं। ये सफर मैं क्यों कर रहा हूं—मुझे मालूम है: ये सफर चाहे लिखित शब्दों के माध्यम से हो या बोले जाने वाले शब्दों के माध्यम से या फिर सिर्फ एक्सप्रेशन से या किसी भी माध्यम से। यह सफर मैं इसलिए करता हूं क्योंकि मैं समाज में, उसके मूल्यों में, आमूलचूल परिवर्तन एक सम्यक परिवर्तन चाहता हूं। जब तक यह मुझे हासिल नहीं होता मैं अपने शब्द, अपनी आवाज़, अपनी लेखनी, अपनी सोच, सबको इस्तेमाल करता रहूंगा। ये बात मेरे साथ समाप्त नहीं होगी—तमाम लोग हैं मेरे साथ जो यही काम कर रहे हैं और तमाम लोग रहेंगे जो ये काम करते रहेंगे।

प्रश्न : अपनी आत्मरचना : ''गर्दिश के दिन'' में आपने स्वीकार किया है कि आप आन्दोलनों के पक्षधर हैं। इसकी वज़ह?

उत्तर : वे लोग, जिन्होंने अभिव्यक्ति को, विशेषकर साहित्य को, व्यक्तिगत माध्यम बना लिया है, आन्दोलनों से घबराते हैं। आन्दोलन उन्हें इसलिए परेशान करते हैं क्योंकि एक साहित्यकार के रूप में जो व्यक्तिगत प्रतिष्ठा उनकी होनी चाहिए और होती है वो प्रतिष्ठा, अगर वे अलग नहीं होंगे तो उन्हें प्राप्त नहीं होती। मैं प्रतिष्ठा के लिए नहीं लिखता। मुझे इतिहास से भी कुछ लेना देना नहीं। साहित्य के इतिहास में नाम आता है या नहीं—यह अगला इतिहस तै करेगा। मुझे कोई चिन्ता नहीं। मैं अपने समय में जीना चाहता हूं। आज के समय में, इस समाज में जहां इतनी विषमताएं हों, कोई भी काम एक आन्दोलन के रूप में ही किया जाना चाहिए। जब तक वो सबका नहीं बनता, तब तक वो केवल आपका है। कमलेश्वर का नाम हो गया है, वो साहित्य में सुसज्जित हो गया है—साहित्यकार की यह स्थिति मुझे सन्तुष्ट नहीं करती। सुसज्जित होने के लिए मैं नहीं लिख रहा।

प्रश्न : आन्दोलन आपने कहानी में ही क्यों चलाए या चलाए गए? उपन्यास में क्यों नहीं?

उत्तर : कारण ये है कि साहित्य में अभिव्यक्ति की मेरी भूल विधा कहानी ही है।

प्रश्न : ''लघु उपन्यास' को प्रतिष्ठा दिलाने में आपके योगदान के महत्त्व को सराहा नहीं जा सकता। लघु उपन्यास और लम्बी कहानी में, तकनीक की दृष्टि से क्या अंतर है?

उत्तर : कला का एक अपना डिसिप्लिन होता है। इस रूप में देखें तो लघु कहानी, निश्चित रूप से एक ज्यादा बड़े कैनवास पर तो होती ही है उसकी अपनी एक तारतम्यता भी होती है। जबकि लघु उपन्यास समय के खंडों को तोड़कर बाहर भी निकल जाता है और इसके बावजूद लघु रहता है। समय के खंडों को तोड़ सकना! यह—कहानी में भी किया जाता है मगर ज्यादातर नहीं क्योंकि कहानी अपने में एक कम्पैक्ट विधा है जो एक जगह से चलकर दूसरी जगह पहुंचती हैं और अपनी बात तीर की तरह कहती है। उपन्यास या लघु—उपन्यास कालखंडों को भेदते हुए जब और आगे तक जाते हैं तो निश्चित रूप से अपने समय का अहसास भी देते हैं और आगे की बात भी कहने की कोशिश भी करते हैं। इसलिए लम्बी कहानी लघु उपन्यास के बजाय कहानी के ज्यादा नज़दीक होती है।

प्रश्न : आपने बड़े उपन्यास क्यों नहीं लिखे?

उत्तर : बड़े उपन्यास लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई मेरी अपनी कमजोरी है और वो ये कि में हमेशा एक बैठक में अपना काम करता हूं—बैठक का मतलब एक सिटिंग, ड्राइंग रूम नहीं। अगर मैं कहानी शुरू करूंगा तो समाप्त करके ही

उठूंगा। मेरे किसी लघु उपन्यास ने एक सप्ताह से ज्यादा समय नहीं लिया। कोई ढाई दिन में समाप्त हुआ तो कोई चार दिनों में अथवा तीन या पांच दिन में लगातार लिखता हूं।

प्रश्न : आन्दोलन आदमी को विवादास्पद बनाते हैं। आप विवादास्पद व्यक्ति रचनाकार रहे हैं। जबसे आप दूरदर्शन में आए हैं, लगता है कि किसी षड्यंत्र के तहत आपको जबरन विवादों के दायरे में घसीटा जा रहा है। आपका क्या ख़याल है?

उत्तर : ये मेरी नियति है। अब इसके लिए मैं क्या कर सकता हूं?

प्रश्न : कहीं चर्चा के केंद्र में रहने के लिए आप विवादास्पद होना तो नहीं चाहते?

उत्तर : नहीं, चर्चा के केन्द्र में रहने के लिए मेरे पास बहुत कुछ है। चर्चा केवल विवादों से नहीं होती। रचना से भी होती है। और फिर विवाद मेरा रचनात्मक समय भी तो ले जाते हैं। गलत विवादों में पड़ने की मैं कोशिश नहीं करता। विवादास्पद इसलिए हूं क्योंकि लोगों से यह बर्दाश्त नहीं होता कि आदमी साहित्य में भी काम करता है, पत्रकारिता के क्षेत्र में भी काम करता है। दो-दो आन्दोलनों के साथ जुड़ा रहता है। अपने समकालीनों के साथ चलता है। अपने समकालीन नए और नव्यतम लेखकों के साथ भी चल सकने की उसमें शक्ति है। उम्र से मैं किसी को नया लेखक नहीं मानता। मैं उसके विचारों से ही उसे नया लेखक मानता हूं। एक 60 बरस का आदमी बहुत नया हो सकता है और 22 बरस का आदमी रूढ़ और दकियानूस हो सकता है। फिर मैंने फिल्में भी लिखीं। वे इत्तफाक से सफल भी रहीं। दूरदर्शन पर भी मेरे कार्यक्रम : लोकमंच और परिक्रमा, पसन्द किए गए। अगर मुझमें स्टैमिना है, जिजीविषा—अपने विचारों के लिए जीने की ताकत—है और यह ताकत लोगों को अखरती है तो चुप रहने के सिवा मैं क्या कर सकता हूं? अगर कभी वे मुझे विवादों में घसीटतें हैं और मुझे लगता है कि कोई मूलभूत प्रश्न खड़ा हो गया है तो मैं जवाब देता हूं। अन्यथा विवाद आते हैं चले जाते हैं। नदी बहती रहती है। कचरा किनारों पर रुकता चला जाता है।

प्रश्न : आप दो कहानी आन्दोलनों में सम्बद्ध रहे। प्रवक्ता भी रहे और नायक भी। नई कहानी की प्रतिबद्धता और समान्तर कहानी की प्रतिबद्धता में क्या बुनियादी उत्तर है?

उत्तर : समय के फैलाव में देखें तो नई कहानी की प्रतिबद्धता उस समय की प्रतिबद्धता है जब हिन्दी कहानी की न अपनी पहचान थी, न अपनी प्रामाणिकता। सामान्य अनुभव का जिक्र भी उसमें नहीं दिखाई पड़ता था। हर कहानी पर ये स्टैम्प होती थी कि ये कहानी वैचारिक रूप से बड़ी प्रखर दिखाई पड़ रही है। नैतिकता और आदर्श का मुलम्मा था। सोचे हुए पात्र थे। विचार थे। कहानी गढ़ी जाती थी। रची नहीं। कहानी की भाषा बड़ी व्यक्तिगत बन गई थी। वहां से जब कहानी का संक्रमण हुआ तो उस समय की प्रतिबद्धता निश्चित रूप से

वामपंथी प्रतिबद्धता थी। मेरा मतलब किसी राजनीतिक वामपंथ से नहीं बल्कि उस वामपन्थ से है जो मानव का पक्षधर है। इसलिए हम अपने कस्बों की तरफ लौटे, अपनी गलियों, गांवों, शहरों की तरफ लौटे, अपने शहरी घरों, शहरी सम्बन्धों की तरफ लौटे और वहीं से हमने अपनी भाषा उठाई। इससे पहले जो कुछ लेखक सोचता था वही पात्र सोचते थे। इसलिए हर लेखक को उसकी रचना के माध्यम से खोजा जाता था। हम ये मानकर नहीं चलते थे। हमारी प्रतिबद्धता ये थी कि पात्र के विचार ही उसके विचार होने चाहिए।

प्रश्न : आपका कौन सा उपन्यास आपके ख्याल में सर्वश्रेष्ठ है?

उत्तर : मैं अभी किसी को सर्वश्रेष्ठ नहीं मानता। कारण यह है कि मैं अभी लिख रहा हूं। अभी आपने कहा था कि मैंने लघु उपन्यास लिखे हैं। लेकिन इस बार मैं एक बड़ा उपन्यास लिख रहा हूं–इसलिए नहीं कि लिख के दिखाना है। नाम हैः "सुबह, दोपहर, शाम", अभी हाल ही में "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में इसका एक खण्ड सीरियलाइज़ हुआ था। बाद में दूसरा खण्ड होगा। ये उपन्यास 4 खण्डों में है। इसका कैनवास, 1800 से 1980 तक का है–करीब दो सौ वर्षों का इतिहास पात्रों के माध्यम से।

प्रश्न : इधर लेखकों का झुकाव इतिहास की ओर हो रहा है। श्रीकान्त वर्मा, कालिदास और उज्जैनी की पृष्ठभूमि पर कविताएं लिख रहे हैं। नरेन्द्र कोहली तो रामायण बांच ही रहे हैं। और "सुबह, दोपहर, शाम" में आप भी गदर यानी कि इतिहास की ओर लौटते दिखाई दे रहे हैं। इतिहास की ओर लौटने को क्या पलायन नहीं कहा जाएगा?

उत्तर : मैं इसे पलायन बिल्कुल नहीं मानता। अगर आप कालिदास पर आना चाहें या अश्वघोष पर या आगे चलकर तुलसीदास पर (हालांकि, तुलसीदास अब मुझे उतने संगत नहीं दिखाई पड़ते) और उसके बाद आप कबीर पर या निराला पर आना चाहें या यशपाल अथवा ऐसे ही अन्य लेखकों जैसे : प्रेमचंद, या मुक्तिबोध पर, तो आ सकते हैं क्योंकि ये तमाम लेखक अपने समय में संगत लेखन करते रहे हैं। अपने समय को अभिव्यक्ति देते रहे हैं और आज भी प्रासंगिक हैं।

प्रश्न : "खोई हुई दिशाएं", आपकी प्रसिद्ध कहानी है। इसमें वाचक यानी कि मैं कौन है, क्या आप स्वयं?

उत्तर : ज्यादातर, मैंने व्यक्तियों को लेकर कहानियां नहीं लिखीं और खुद पर कहानी लिखना मेरे लिए बेहद कठिन रहा है। इतना जरूर है कि "खोई हुई दिशाएं" में जो बात मैंने कहनी चाही वह मेरे अपने मानस की बात है, मगर वह मेरे समय के युवा मानस की बात भी है। जिन स्थितियों, परिस्थितियों और अंतर्विरोधों में हम अपने को पा रहे थे, उन्हें मैंने इस कहानी में देने की कोशिश की। वैसे अगर आप मुझे इस कहानी में खोजना चाहें तो इन्कार नहीं करूंगा।

प्रश्न : आपकी रचनाओं में आत्मकथात्मक ''एलिमेंट'' कितना है?

उत्तर : मैं समझता हूं कि बहुत अधिक नहीं है।

प्रश्न : आप बचपन में अपने पिता को ढूंढ़ते रहे। आपके चर्चित उपन्यास ''समुद्र में खोया हुआ आदमी'' में पिता अपने पुत्र को ढूंढ़ता है। उसकी खोज कभी पूरी नहीं होती। आपने अपने पिता से इस तरह बदला क्यों लिया?

उत्तर : बदला तो एक शब्द है।

प्रश्न : मगर यह आपका शब्द है?

उत्तर : जी हां, मेरी स्टेटमेन्ट है–''गर्दिश के दिन में,'' मुझे बड़ी खुशी है कि आपने मुझे सघनता से पढ़ा। वैसे उपन्यास में बात दूसरी कही गई है। मृत्यु से बड़ा कोई सत्य नहीं, लेकिन मैं मृत्यु की नहीं जीवन की बात कर रहा हूं। जो चीज़े जिन्दगी में मरती चली जा रही हैं उन्हें स्वीकार करने से जिन्दगी बहुत रफ्तार से बदलती है। लेकिन चीज़ें मरती चली जा रही हैं और उन्हें स्वीकार न करना, हमारी परम्परा बन गई हैं। इसलिए उस बीरेन या उस बच्चे, जिसकी मृत्यु हो जाती है या जो जहाज पर से गुम हो जाता है, उसकी मृत्यु को जब तक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता तब तक घर बिखरता नहीं अटका रहता है। जिस दिन उसकी मृत्यु को सब स्वीकार कर लेते हैं उस दिन से, आप देखिए, बहन का रास्ता दूसरा हो जाता है, पिता का दूसरा, पिता, मां से अलग हो जाता है। मेरे कहने का मतलब है कि जिन्दगी में जो चीजें मरती चली आ रही हैं उन्हें जल्दी स्वीकार करिए। जिन्दगी का रास्ता बदल जाएगा। इसलिए पुत्र का मरना एक सिम्बल है–परिवार के विघटन का।

प्रश्न : परिवार के विघटन और जिन्दगी के मूल्यों के ह्रास की बात, आपने अपनी रचनाओं में बड़ी प्रखरता से उठाई है। इस विघटन और अवमूल्यन के पीछे कौन-सी ताकते हैं?

उत्तर : हमारी जितनी रूढ़ियां हैं.......

प्रश्न : ये ताकतें क्या आज ज्यादा पावरफुल नहीं हो गईं?

उत्तर : निश्चित रूप से और ज्यादा पावरफुल हुई हैं और ताकतें तो मनुष्यों में ही होती हैं.......इसलिए वे ऊपर से शायद ज्यादा आधुनिक दिखाई देने लगे हों लेकिन भीतर से वे कहीं और ज्यादा पथरीले हो गए हैं ऐसा इसलिए हुआ कि हमारे यहां जो आर्थिक विकास हुआ उसके जरिए आर्थिक शक्ति उन्हीं लोगों तक पहुंची जो रूढ़ या पथरीले थे।

प्रश्न : आज प्रगतिशील लेखन की क्या दिशा हो सकती है? क्या उपन्यासकार या कथाकार को किसी राजनीतिक पार्टी का प्रवक्ता होना चाहिए? जीवन और साहित्य में राजनीति का दखल बढ़ता जा रहा है।

उत्तर : हो सकता है मेरी बात को गलत भी समझा जाए मगर मैं कभी-भी लेखक से ये नहीं कहूंगा कि वो राजनीति से अलग रहे। अगर वो पार्टी से भी

जुड़ा हुआ है और समझदार है तो उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। पार्टी के दबाव में आकर लिखी गई रचनाएं अपने आप समाप्त होती चली जाती हैं। अपने अनुभवों से समर्थित सच्चाइयों को व्यक्त करने वाला लेखन ही प्रगतिशील लेखन है।

प्रश्न : आप दूरदर्शन में हैं और एक क्रिएटिव राइटर भी हैं। आपसे उम्मीद की जाती है कि जब आप यहां से जाएं, एक "टेम्पो" बना के जाएं, ऐसी बुनियाद डाल के जाएं कि जिसके दूरगामी प्रभाव हों, ताकि आपके जाने के बाद भी, दर्शकों को अच्छे कार्यक्रम देखने को मिलते रहें। ऐसी योजना है कोई?

उत्तर : पहली बात तो मैं आपसे बता दूं कि अभी यहां से जाने का मेरा कोई इरादा नहीं है.....(एक ज़ोरदार खनकती हुई हंसी.....)

प्रश्न : मैं बहुत दूर की बात कर रहा था। कोई पर्मानेन्ट इफेक्ट या लेगेसी आप छोड़ जाएं....

उत्तर : मैं समझता हूं किसी समय में, दिए गए समय में, जो आदमी किसी लक्ष्य के लिए काम करता है, उसके साथ अपने आपको इन्वॉल्व्ड मानता है। जिन्दगी में उसके लिए कुछ चीज़ें हमेशा तै होती हैं। उसके लिए वह कितनी ही चीजों का बलिदान भी देता है। मैं नहीं कहता कि मैंने कोई बलिदान दिया है मगर वो तमाम लोग जो आज दूरदर्शन में शामिल हैं, बलिदान कर रहें हैं। इसलिए मुझे लगता है कि दूरदर्शन की अपनी एक अलग संस्कृति पैदा हो रही है और होगी। और एक दफा जब एक संस्कृति पैदा हो जाती तो उस कल्चर में खुद इतनी शक्ति होती है कि वो तमाम चीजें बदलती चली जाती हैं। तो मैं ये नहीं कहूंगा कि व्यक्तिरूप में मैं कोई ऐसी "लेगेसी" छोड़ जाऊंगा। मगर एक संस्था के रूप में, दूरदर्शन अपने आप में एक आदर्श होगा। उसमें मेरा भी योगदान होगा। मेरे तमाम सहयोगियों, मेरे तमाम टेकनीशियनों और प्रोड्यूसरों का भी योगदान होगा.....ये कोई अकेला काम नहीं है। ये तो एक महायुद्ध है।

प्रश्न : अपने बाद के रचनाकारों के उपन्यासों—"छोटे-छोटे महायुद्ध", "मुर्दाघर", "उनका फैसला" "मृगांतक", "महामहिम" आदि.....के बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर : इन लोगों ने निश्चित रूप से उन स्थलों को छूने की कोशिश की है जिनको हम नहीं छू पाए।

प्रश्न : आपके समकालीनों—कृष्ण बलदेव वेद, निर्मल वर्मा आदि—और युवा रचनाकारों द्वारा लिखी जा रही रचनाओं में, क्या आपको कोई फर्क दिखाई देता है?

उत्तर : निश्चित रूप से दिखाई पड़ता है। नए रचनाकारों ने अपनी अभिव्यक्ति को और पैना किया है। उनके भीतर परिवर्तन की जो लालसा नई कहानी के दौर में पैदा की गई थी, वो लालसा और उत्कट हुई है। मुझे बहुत खुशी है। मैं अपने आपको भरा पूरा मानता हूं। आपको सही बताऊं, मैं एक

हिंदी के अधिकांश चर्चित साहित्यकार फिल्मों में लिखना चाहते हैं। कमलेश्वर आदि लिख भी रहे हैं। आपने इस माध्यम को क्यों नहीं अपनाया?

आदर्शवादिता एक कारण हो सकती है। 1954 में इंगलैंड से लौटने पर मुझे फिल्मों में गीत लिखने के आफर मिले थे। एक गीत लिखकर उन दिनों मैं एक कार खरीद सकता था। मुझे पैसों की जरूरत भी थी। किंतु मैंने सभी आफर ठुकरा दिए। मुझे गीत लिखने के लिए उत्स चाहिए था, ऊर्जा चाहिए थी, रुपया नहीं। कृत्रिम परिस्थितियों से मजबूर होकर फिल्मों के लिए लिखना मेरे बस की बात नहीं है। हिंदी या साहित्य सेवा के लिए भी मैंने कभी नहीं लिखा। संगीतकार जयदेव ने फिल्म *'आलाप'* में जेसूदास की आवाज में मेरा गीत *'कोई गाता, मैं सो जाता'* लिया है। फिल्म-लेखन से मेरी कीर्ति में, अब क्या कुछ इजाफा हो सकता है?

मैं उनके सवाल के उत्तर में खमोश रहा। वह मुस्कराए और गुनगुनाने लगे—*कोई गाता, मैं सो जाता।* वे गाते रहे मैं सुनता रहा। गीत खत्म होने पर कुछ क्षण मैं मौन साधे रहा फिर अगला सवाल उनसे पूछा।

क्या काफ्का की तरह साहित्य आपके अस्तित्व की बुनियादी शर्त है।

मैंने काफ्का को नहीं पढ़ा। इसलिए मैं काफ्का से अपनी तुलना नहीं कर सकता।

कविता के डिक्शन के बारे में आपके प्रतिमान क्या हैं?

डिक्शन के बारे में मैंने शायद ही कभी सोचा हो। डिक्शन से ज्यादा मैंने कवि के व्यक्तित्व के बारे में सोचा है। कवि का व्यक्तित्व उसकी कविता के डिक्शन को निर्धारित करता है—बशर्ते कि कविता सहज रूप में आए। सहज कविता में वचनप्रवीणता या कृत्रिम कला नहीं होती। पंत जी की कविता वचनप्रवीणता की कविता है। उन्हें डिक्शन, डिक्शनरी से मिला है। डिक्शनरी को वह सिरहाने रखकर सोते हैं। जीवन को उन्होंने चिमटे से छुआ है। अंगारा उन्होंने हथेली पर नहीं रखा। शब्दावली उन्हें जिंदगी से नहीं, किताब से मिली है। मैं शब्दावली जिंदगी से लेता हूं। सरल होना साधना है।

इस संदर्भ में भवानीप्रसाद मिश्र पर कुछ कहेंगे?

भवानी की कविता का डिक्शन, डायलॉगिक डिक्शन है। खड़ी बोली के 'रिद्म' को उन्होंने खूब पहचाना है।

कविता का कविताभ्यास से क्या संबंध है?

सहज अभिव्यक्ति हमेशा कविता नहीं होती। कुत्ते का भौंकना भी सहज है। मगर वह कला नहीं है। आपने सर्कस में किसी जिमनास्ट को देखा होगा। अपने जिस्म को सहजता से तोड़-मरोड़कर वह अपनी कला का प्रदर्शन करता है। किंतु इस लचीलेपन को अर्जित करने के लिए उसका सालों का अभ्यास काम कर रहा होता है। यही बात कविता-कला पर लागू होती है 'यू हैव टु मेक एफर्ट टु बी नेचुरल, टु द एक्सटेंट दैट युवर एफर्ट शुड एपीयर टु बी एफर्टलेस'। यही साधना काव्याभ्यास कहलाती है।

कविता में विचार का क्या कोई अलग अस्तित्व है?

नहीं। कविता में विचार एवं भावना हमेशा विद्यमान रहते हैं। कभी भावना प्रबल होती है तो कभी विचार कविता पर हावी हो जाता है। भावना में बहना नदी में बहने की तरह है और बुद्धि का अनुसरण पहाड़ पर चढ़ने जैसा। भावना, विश्वास मांगती है और बुद्धि सतर्कता। अब समय बदल गया है। यह युग बौद्धिकता का है। इसलिए गीत को इंटेलेक्चुअल पोयट्री ने विस्थापित कर दिया है।

कविता की समझ का अनुभव संपन्नता से क्या कोई संबंध है?

काव्यानंद की अनुभूति की तीव्रता या कविता की समझ की गहराई इस बात पर भी निर्भर होती है कि अभिव्यक्ति किस स्तर पर काम कर रही है? यानी कि वह मात्र सूचनात्मक है या संप्रेषण की खूबियों को लेकर चल रही है अथवा पाठक-श्रोता में कवि का अहसास जगा रही है। अभिव्यक्ति महान कविता में उद्‌बोधनात्मक स्तर को छूती है। इसके लिए पाठक-श्रोता का कवि की तरह अनुभवसंपन्न होना जरूरी है।

कृति की सफलता आप इसमें मानते हैं कि वह लोगों को छेड़े, परेशान करे, बेचैन करे—इस दृष्टि से आपकी कौन-सी रचना आपको सर्वाधिक प्रिय है?

'मधुशाला' एवं *'निशा निमंत्रण'*। मेरे युग में उल्लास जितना ऊंचा उठ सकता था, *'मधुशाला'* में उठा और अवसाद जितना नीचे जा सकता था, *निशा निमंत्रण'* में गया। दोनों कृतियां लंबे समय तक जीवित रहेंगी। इन दोनों कृतियों में जिजीविषा है। अंततः पाठक को इनकी जरूरत काफी अर्से तक महसूस होती रहेगी।

जिजीविषा से आपका क्या अभिप्राय है?

वह कौन-सी ताकत है कि कालिदास की रचनाएं डेढ़ हजार वर्षों एवं शेक्सपियर की कृतियां चार सौ साल बाद भी जिंदा हैं? महान कविता में जीने की इच्छा होती है। भिन्न काल खंडों में भिन्न पाठकों को इसके अलग-अलग अर्थ आकर्षित करते हैं।

कलिदास, शेक्सपियर से 1200 साल पहले कालजयी साहित्य लिख चुके थे। इसके बावजूद अक्सर यह क्यों सुनाई पड़ता है—कालिदास हिंदुस्तान के शेक्सपियर हैं?

इसका सीधा संबंध मानसिक गुलामी से है।

अकविता और अगीत के बारे में आपकी राय ?

रवींद्रनाथ के प्रभाव में बंगला कविता को मुक्ति दिलाने के लिए कुछ कवियों के अश्लील शब्दावली का सहारा लिया था। यह जरूरी था वर्ना बंगला कविता 'स्टैगनेट' हो जाती। हिंदी की अकविता का उद्देश्य भी कविता के चालू सांचों को तोड़ना था। जिस प्रकार नवगीत, नई कविता की प्रतिक्रिया है, उसी प्रकार अगीत अकविता की प्रतिक्रिया मात्र है।

हाल ही में आपके समूचे गद्य लेखन पर जोशी जी की आलोचनात्मक पुस्तक *'गद्यकार बच्चन'* के शुरू में एक सूक्ति है....*गद्यं कवीनां निकषं वदंति।* इस पर आप कुछ कहना चाहेंगे?

पुराने लोगों की कही हुई बात है। इसमें अनुभव है। इसलिए मैं इसे मान लूंगा। गद्य में स्वतंत्रता है, कविता में बंधन। अभिव्यक्ति के जो गुण कविता में स्पृहणीय हैं, वही गद्य के लिए भी स्पृहणीय हैं।

जीवन जीना अपने आप में काफी है...ऐसा आपने कहा है। इससे आपका अभिप्राय? क्या सृजन भी जीने की प्रक्रिया मात्र है?

सृजन भी जीने का ही अंग है। लेकिन यदि सृजन न हो तो क्या जीवन जिया नहीं जाता? बहुत-से लोग कविता जीते हैं, लिखते नहीं। वे कविता पढ़ते-सुनते हैं। कविता जिंदगी की जरूरत है, फर्ज नहीं। जीवन जीना अपने आप में बहुत बड़ी चीज है। 'कॉस्मॉस' आपसे क्या काम लेना चाहता है, आप कैसे जान सकते हैं?

आपातकालीन स्थिति के दौर में अच्छे साहित्य की रचना नहीं हो सकती?

राजनीति दरअसल 'राजनीति' है। इसे सही-सही समझ पाना आम आदमी के लिए कठिन है। अतः शीघ्र ही कुछ भी राजनीतिक निर्णयों और आपातकालीन स्थितियों के बारे में नहीं कहा जा सकता। आपातकालीन स्थिति को अनुशासन पर्व की संज्ञा देकर विनोबा जी ने बहुत बड़ी बात कही थी। ऐसे दौर में बेहद अच्छा साहित्य रचा जा सकता है। समर्थ कवि हर दौर में अपनी बात कहता है। असमर्थ लोग शिकायत करते फिरते हैं। अकबर के जमाने में भी तुलसीदास ने अपनी बात कही ही थी।

आपातकालीन स्थिति में साहित्य का दाय?

अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करना साहित्यकार का फर्ज है, किंतु असामान्य परिस्थितियों में समाज के अनुशासन को समझना एवं स्वीकारना जरूरी है। आपातकालीन मानस को समझकर, आपद्धर्म को अपनाकर मानस को सही रास्ते पर लगाना ही इमरजेंसी में साहित्यकार का दाय हो सकता है।

ढाई अक्षरों की कविता

अमृता प्रीतम की कविता की दुनिया, आत्मीय बातचीत के लहजे की दुनिया है और इस बातचीत में शामिल औरत से ''बीते और ठहरे क्षणों के साथ सच'', पूरी नज्म पर लकीर फेरने की यातना ''बदन से बेगाने जख्म को भूलने की जरूरत'', ''आजाद रूह की झलक की शिनाख्त'', ''सिगरेट की तरह चुपचाप दर्द पीने'' की जिद के बारे में ''बहुत कुछ'' और युद्ध, अन्याय, शोषण, समाज, राजनीति, इतिहास के बारे में भी 'थोड़ा-बहुत' सुना जा सकता है। बुनियादी तौर पर अमृता प्रीतम की कविता मानवीय प्रेम की परिक्रमा करती है। इसके मनोवैज्ञानिक कारणों को समझना मुश्किल नहीं। शुरू में बचपन के अकेलेपन ने उन्हें आत्मचिंता और आत्मप्रेम से जोड़ा मगर चेतना के विस्तार के साथ-साथ, सूफी कविता में व्यक्त दर्शन के प्रभाव से उनके सरोकार मानवीय प्रेम की व्यापकता से जुड़ते चले गए। जटिल प्रतीकों, दुरूहता, दार्शनिक मुद्राओं और क्रांतिकारी तेवरों से मुक्त, सतही तौर पर रूमानियत से ग्रस्त दीखने वाली उनकी कविता दरअसल प्रेम और अध्यात्म के संबंधों को पहचानने की एक ईमानदार कोशिश है। यही कोशिश उन्हें—भक्तिमार्गी मीरा और रहस्यवादी/छायावादी महादेवी वर्मा से अलग कवि-व्यक्तित्व प्रदान करती है। उनके व्यक्तिगत अनुभव से संबद्ध जद्दोजहद से भरी विवादास्पद जिंदगी का 'तनाव', औरत को हेय दृष्टि से देखने वाले रूढ़िग्रस्त समाज के प्रति तूफानी रोष और प्रतिवादजन्य 'आक्रामकता' उनके कवितानुभव में रूपांतरित होते वक्त, ध्रुवांतरण की प्रक्रिया से भी गुजरते हैं और अंततः उनकी कविता में ममता, करुणा और प्रेम की शक्लों में दिखाई देते हैं। अमृता प्रीतम ने जिंदगी की तमाम कड़वाहट को प्रेम में विसर्जित कर, प्रेम के ''ढाई अक्षर'' पढ़े और गुने, मगर पंडित बनने के बजाय, ''ढाई अक्षरों' की कविता लिखने में सिद्धि हासिल करने की कोशिश में अपनी उम्र के लगभग पांच दशक होम कर दिए।

दुबली-पतली, छोटे कद और रूपहले बालों वाली, 81 वर्षीया अमृता प्रीतम की आंखों की चमक का रिश्ता, उनकी उपलब्धियों की बजाय, उनके अकृत्रिम व्यवहार, आत्मीय मुस्कान और कामनीय प्रेम से उनकी संबद्धता की उज्ज्वल रोशनी से ज्यादा जुड़ता है। उनके अद्भुत व्यक्तित्व की चुबंकीयता से बच पाना नितांत असंभव है। वे मानवीय प्रेम की अप्रतिम गायिका हैं और कविता में इसकी श्रेष्ठ

अभिव्यक्ति के लिए वे समय-समय पर पुरस्कृत, सम्मानित और अलंकृत भी की जाती रही हैं। पंजाबी में उत्कृष्ट काव्य रचना के लिए 1956 में उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया। पुरस्कृत कृति थी—'सुनेहुड़े' अर्थात् पैगाम (1955)। 1969 में उन्हें पद्मश्री से अलंकृत किया गया। 1980 में उन्हें बल्गारिया ने अंतर्राष्ट्रीय निकोला वप्त्सारोव पुरस्कार से सम्मानित किया। उन्हें 1981 का ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया। हाल ही में उन्हें मिलेनियम अवॉर्ड से भी सम्मानित किया गया। मगर इन तमाम उपलब्धियों को अर्जित करने के लिए उन्हें संघर्षों के जिस दौर से गुजरना पड़ा, उसके खौफनाक अंधेरे उनकी कविता की दुनिया और उनकी दुनिया को कतई विकृत नहीं कर पाए। उन्होंने स्वयं को कभी कविता और आचरण के फर्क से उत्पन्न होने वाले नैतिक दोगलेपन का शिकार नहीं होने दिया। यह आकस्मिक नहीं कि उनकी कविता पढ़ते-सुनते हुए उनसे बात करने और उनसे बात करते हुए, उनकी कविता पढ़ने-सुनने का अहसास होता है। यह अहसास इस टिप्पणीकार को कई बार हो चुका है। मगर 14, मई 1982 की शाम को एक मुलाकात के दौरान मेरे अतिरिक्त प्रसिद्ध समाज विज्ञान कवि डॉक्टर श्यामसिंह 'शशि' और बर्मी कथाकार श्री चंद्रप्रकाश प्रभाकर को भी लगभग दो घंटे तक यह अहसास होता रहा। उक्त मुलाकात में अमृता प्रीतम जी से साहित्य, राजनीति और जिप्सियों पर विस्तृत बातचीत तो हुई ही, उन्होंने गंभीर आवाज में कुछ चुनिंदा कविताएं भी सुनाईं। प्रस्तुत हैं उक्त बातचीत के कुछ अंश—

बात पुरस्कारों से ही शुरू की जाए। राजनैतिक दखलंदाजी, चयन समिति के सदस्यों के निहित स्वार्थों व पूर्वाग्रहों और साहित्यिक गुटबंदी के कारण पुरस्कारों की गरिमा अक्सर खंडित होती आई है। विभिन्न भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों के इतिहास के कई पन्ने पुरस्कृत कृतियों के स्तर और पुरस्कार-विजेता रचनाकारों की पात्रता की विवादास्पदता से काले हो चुके हैं। नोबेल पुरस्कार ठुकरा कर सार्त्र ने शायद इसी भयावह सच्चाई की ओर इशारा किया था 1980 में बल्गारी अंतर्राष्ट्रीय निकोला वप्त्सारोव पुरस्कार और अब 1981 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किए जाने पर आपकी क्या प्रतिक्रिया रही। पुरस्कार राशि की अनुपस्थिति में भी क्या आप उतनी ही संतुष्ट होतीं जितनी कि अब हैं?

आपकी बात ठीक है। अक्सर ऐसा भी होता है कि बगैर किसी राजनीतिक दखलंदाजी के भी पुरस्कार जीते जाते हैं। किसी भी पुरस्कार को पाने की मैंने तो कभी भी कोई कोशिश नहीं की। जिन्होंने भी मुझे पढ़ा और जाना है वे मुझ पर कोई आरोप नहीं लगाएंगे। हां, प्रतिस्पर्धियों की ईर्ष्या का तो कोई इलाज नहीं है। रही तसल्ली की बात; मेरे विचार से तो आदमी को खुद अपने सामने होना पड़ता है और तसल्ली अपने "स्व" के आइने में तलाशनी पड़ती है; बाहर नहीं। खुद के आइने में से उपलब्ध की गई तसल्ली ही सही मायनों में तसल्ली होती है। खाली बाहर के स्टैम्प लगवा लेने से इंसान को कैसे तसल्ली मिलती है—मैं नहीं

समझ पाती? धन भी साधन है साध्य नहीं।

पुरुष-प्रधान समाज में अगर कोई महिला रचनाकार कला और संस्कृति से जुड़कर समाज में अपनी पहचान बनाना चाहती है तो उसे दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। आपने यह लड़ाई कैसे, किस माध्यम से लड़ी।

जी हां, दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। एक वो जो बौद्धिक धरातल पर हर साहित्यकार लड़ता है और दूसरी वो जो औरत होने की वजह से उसकी नियति बन चुकी है। इस लड़ाई का बहुत लंबा इतिहास है। मेरी एक किताब अभी, इसी सप्ताह छपी है—''कड़ी धूप का सफर'' इसमें मैंने ऋग्वेद (जिसके संकलन में 27 औरतों ने हिस्सा लिया) के युग की गार्गी से लेकर आधुनिक युग की कई महिला रचनाकारों (यों रचनाकार सिर्फ रचनाकार होता है, पुरुष या नारी नहीं) की जद्दोजहद को व्यक्त किया है। मसलन ''ग्रीस'' की ''सैफो'' को अपनी कविताओं के कारण जलावतन होना पड़ा। जापान का सबसे पहला उपन्यास एक औरत ने लिखा मगर उसे अपना नाम छुपाना पड़ा। उपन्यासकार के रूप में उपन्यास के मुख्य पात्र का नाम दे दिया गया। कई महिला रचनाकारों को आत्महत्या भी करनी पड़ी। ऐसे कुछ संदर्भ व कुछ कविताएं मेरी किताब में शामिल हैं। स्त्री-संघर्ष का यह सिलसिला जारी है। मुझे ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने की खबर अपने देशवासियों तक पहुंचाने के लिए स्पानी दूरदर्शन वाले कुछ दिन पहले मुझसे मिलने आए। मुलाकात के दौरान अनौपचारिक बातचीत में उन्होंने बताया कि पुरुष-प्रधान स्पानी समाज में औरत जूझ रही है। उसका कड़ा संघर्ष अभी भी जारी है। क्या हिंदुस्तान में भी यही स्थिति है। मैंने कहा—यहां औरत की जद्दोजहद कुछ ज्यादा ही है, कम नहीं।

कविता की दुनिया, आपको मानवीय प्रेम की अप्रतिम गायिका के रूप में पहचानती है। आपकी कविता में किसी चिंतक, दार्शनिक अथवा समाज सुधारक की मुद्राएं बिल्कुल गायब हैं। अपनी कविता में आप भावना के जरिए ''कॉजमिक अवेयरनेस'' तक पहुंचने की कोशिश करती नजर आती हैं। मीरा ने यह कोशिश भक्ति और महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद के जरिए की। आपने ये रास्ते क्यों नहीं अपनाए?

प्रेम कोई छोटा लफ्ज नहीं है। दरअसल प्रेम एक बुनियाद है जिसकी एक्सटेंशन्स हमें भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती हैं। मेरी एक किताब का नाम है....''मैं जमा तू''। जिसमें एक शामिल हुआ। उसे महबूब का दर्जा दे डालिये। उसी का दूसरा हिस्सा है—''मैं जमा दुनिया'', जिसमें दुनिया शामिल हुई। ये 'मैं' की ही एक्सटेंशन है, मगर 'मैं' वो बिंदु है जिसकी रिअलाइजेशन खुद को ही करनी पड़ती है। यह रिअलाइजेशन होने पर ही दुनिया शामिल होगी। लोग दुनिया का नाम तो लेते हैं मगर उसमें 'मैं' को शामिल नहीं करते। लिहाजा बात सतही होकर रह जाती है। बात हाथ में पकड़े झंडे की तरह होनी चाहिए—पार्ट आफ द बीइंग। दुनिया कितनी भी बड़ी हो—दैट इज द पार्ट ऑफ यूअर ओन वे। जब तक यह अहसास नहीं होगा तब तक तो सही मायनों में न तो दर्द व्यक्त हो पाएगा और

न अर्थ की प्रतीति हो पाएगी। कुछ अर्सा पहले मैंने अपनी पत्रिका ''नागमणि'' का एक अंक निकाला था जिसकी एक कथा थी—चौथा कमरा। जब औरत मर्द की जिंदगी में दाखिल होती है तो घर के दो कमरे उसके लिए खोल दिए जाते हैं—(1) किचन और (2) बेडरूम। इन्हीं दो कमरों के लिए औरत की तलाश की जाती है। शादी की बुनियाद भी यही दो कमरे हैं। अगर औरत हसीन और एजूकेटेड है तो उसके लिए तीसरा कमरा भी खुल सकता है। हर समय नहीं लेकिन गाहे बगाहे। इस तीसरे कमरे को ड्राइंग रूम कहा जाता है, जिसमें औरत एक इंसान या 'इंडिविजुअल' की हैसियत से दाखिल होती है, बतौर औरत नहीं। 'डेकोरेटिव पीस' की मानिंद-ए ब्यूटीफल कल्चरल फर्नीचर ऑफ द ड्राइंग रूम। घर का चौथा कमरा मैं उसे मानती हूं जिसमें दो दिल एक होते हैं; टू माइंड्स यूनाइट, जिसमें उनके सपने जन्म लें, काम पूरे हों; आर्थिक, इंटेलेक्चुअल या किसी भी मसले पर वो मिलकर सोच सकें। सोलह/सत्रह/अठारह कमरों वाले घरों में भी चौथा कमरा नहीं होता। सो बात चौथे कमरे की है। जब यह घर का हिस्सा बन जाएगा, समाज के कई सवाल हल हो जाएंगे।

आपकी कविता की दुनिया आत्मीय बातचीत के लहजे की दुनिया है। आपकी कविता पढ़ते/सुनते हुए/आपसे बात करने और आपसे बात करते हुए आपकी कविता पढ़ने/सुनने का अहसास होता है—मानो लिखते वक्त आपकी कल्पना में कोई पाठक/श्रोता रहता हो, जिसे पास बिठाकर आप बातचीत करती रहती हों। काव्यकला के इस उत्कर्ष में क्या आपकी इमोटिव भाषा का भी हाथ है?

लिखते वक्त मैं अकेली होती हूं—खुद ही लेखक होती हूं और खुद ही पाठक/श्रोता। कोई और पाठक/श्रोता मेरे सामने नहीं होता। मैं खुद से बात करती हूं। खुद से बात करने का अर्थ है उससे संवाद कायम करना जो आपसे या जिससे आप आइडेंटीफाइ कर जाएं। पिछले दिनों मैं एक नावल लिख रही थी....तेरहवां सूरज। उसका एक किरदार एक लेखक, लिखते-लिखते सो जाता है। कागज उसकी मेज पर पड़े हैं। मैं नहीं जानती मैंने कितना उससे खुद को आइडेन्टीफाइ किया कि जब मैं सो गई तो मुझे लगा कि मेरी मेज पर जो कागज पड़े हुए थे वो उड़कर नीचे जा गिरे और अक्षर कागजों से छिटक कर दूर जा गिरे। सपने में मैं उठकर, घबराकर अक्षर बीनने लगी। काले-काले बीजों की तरह वे मानों जमीन पर बिखरे पड़े थे। किसी गिरी हुई चीज की तरह दाएं हाथ से अक्षर चुनकर मैंने बाएं हाथ पर रखे। मेरा बायां हाथ देखते-देखते मिट्टी का हो गया—गीली मिट्टी का। बीने गए अक्षर-बीजों को फिर मैंने दाएं हाथ के अंगूठे से बाईं हथेली में बो दिया। फिर देखती हूं कि दायां हाथ भी मिट्टी का हो गया है और बाएं हाथ की उंगलियों से अक्षर उठाकर उसमें भी बो दिए। कितना वक्त गुजरा, पता नहीं, सपने में वक्त का अंदाजा नहीं हो पाया। देखती हूं कि दोनों हाथों में लाल-लाल फूल उग आए

जिन्हें देखकर मैं हैरान होती हूं। हैरानी से नींद खुल गयी। हाथ देखती हूं वैसे ही हाथ हैं जैसे होते हैं—अच्छे खासे, नरम, मांसल। मालूम नहीं ये हाथ नार्मल हैं या वो नार्मल थे। हथेलियों में उगे छोटे-छोटे लाल फूलों वाले सपने को मैंने उपन्यास में उसी किरदार से जोड़कर डाल दिया—मेरे किरदार का सपना। मुझे लगा कि सपना आना तो किरदार को चाहिए था मगर उसकी जगह आया मुझे। पता नहीं चलता कि कितना कुछ अपना हम किरदार को देते हैं और कितना कुछ किरदार का लेते हैं। जहां तक कविता की भाषा का सवाल है तो आप जानते ही हैं कि भाषा कैसी बनी। इन्सान के भीतर वाइब्रेशन्स हैं, जिनकी संख्या पचास मानी गई है। इन्हीं 50 'वाइब्रेशन्स' से 50 अक्षर बने, संस्कृत भाषा की बुनियाद पड़ी। इन कम्पनों के साथ आप एक हो जाइए। बात फिर वहीं जायेगी—"सेल्फ-रिअलाइजेशन" (आत्मज्ञान) पर। अहसास के कम्पनों को पकड़िए। यही अहसास अक्षरों का रूप लेता है, ढल जाता है गोलाई में या लकीरों में।

हिंदी में आप कविता के जरिए कम व 'पिंजर' और 'डॉ. देव' जैसे चर्चित तथा लोकप्रिय उपन्यासों के जरिए ज्यादा जानी जाती हैं। इन उपन्यासों के प्रेरणास्रोतों को कहां तलाश किया जा सकता है?

जब देश की तकसीम हुई तो बहुत कुछ देखा। बहुत कुछ सुना। सुभाष चंद्र बोस की आजाद हिंद फौज के सेनानी शाहनवाज से मिलने का इत्तफाक हुआ। उनके पास रिपोर्टस आती थीं—कितनी औरतों से बलात्कार हुआ, कितनों का कत्ल हुआ। हर बलात्कृत और कत्ल की गई औरत मेरे लिए मानो जिंदा हो जाया करती थी। परिणामतः मैंने 'पिंजर' उपन्यास लिखा जिसके अंत में एक स्त्री का पात्र कहती है—कोई भी लड़की चाहे वो हिंदू हो या मुसलमान, जो भी ठिकाने पहुंच गई समझो पूरब की रुह ठिकाने पहुंच गई। डॉ. देव मेरे जेहन का था। मैं चाहती थी कि कोई ऐसा इन्सान जिंदगी में आता तो। उस तमन्ना से पैदा हुआ था "डॉ. देव"। यह पात्र मैंने कल्पना से गढ़ा था। तसव्वुर आखिर क्या है....यथार्थ की हद से थोड़ा-सा आगे? उसे हम यथार्थ की हद में लाना चाहते हैं। डॉ. देव की जो कल्पना मैंने की थी, मैं चाहती थी कि वो यथार्थ की हद में आ जाए। आप यह जानकर हैरान होंगे कि इमरोज का जब पहला फोन मुझे आया था तब मैं उन्हें जानती नहीं थी। उन्होंने फोन पर कहा—मैं डॉ. देव बोल रहा हूं। मैं हैरान हुई। फिर सोचा ऐसे ही किसी ने शरारत की होगी। मैंने फोन रख दिया। बाद में पता चला कि उन्होंने फोन गम्भीरता से किया था। डॉ. देव से उन्होंने खुद को पूरी तरह आइडेन्टीफाइ किया था।

काव्यरचना के अतिरिक्त कवितानुवाद में भी आपकी गहरी दिलचस्पी रही है। प्रसिद्ध भारतीय और विदेशी कवियों की कविताओं के ही नहीं मुझ जैसे युवा कवि की कविताओं के भी पंजाबी में अनुवाद किए हैं। क्या अनुवाद के जरिए एक सांस्कृतिक सेतु नहीं बनता?

जिस भी कवि की कविताएं मुझे अच्छी लगती हैं, मैं उसकी कविताएं अनूदित करती हूं और शौक से करती हूं। अनुवाद के जरिए "कल्चरल ब्रिज" बनता है और विदेशों में अगर सही लोग भेजे जाएं तो अनुवादक की भूमिका का महत्त्व समझा जा सकता है। अक्सर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नाम पर बाहर जाने वाले लोगों (सभी नहीं मगर अधिसंख्य) के योगदान के बारे में कुछ भी सुनने को नहीं मिलता। विदेशों की सैर करने और वहां की संस्कृतियों की खोज करने में जमीन आसमान का अंतर होता है।

कवितानुवाद से क्या आपकी अपनी कविता के मुहावरे में कोई बदलाव आया? जब कोई कवि किसी महान अथवा सिद्ध कवि की कविता का अनुवाद करता है तो क्या उसकी अपनी कविता का भी परिष्कार होता है?

मुझे तो कवितानुवाद भी अपनी कविता की तरह लगता है। बात है किसी ने कह दी। जैसे आयन रैन्ड को पढ़ा तो लगा कि जो बात मैं कहना चाहती थी उसे ज्यादा स्पष्टता से बहुत थोड़े लफजों में आयन रैन्ड ने कह दिया। ऐडमिरेश्न, प्रशंसा का भाव मन में पैदा हुआ। दूसरे की कविता में अपनी पहचान मिली। बल्गारी शायरा एलिजावेथा बाग्रयाना की एक कविता पंक्ति है....."आइ एम द ब्लड-सिस्टर ऑव विन्ड, वाइन एन्ड वाटर"

—कितनी प्यारी है?

सूफी कविता की लोकगीतों की सहजता में आपकी कविता के प्रेरणास्रोत ढूंढ़े जा सकते हैं?

उन्होंने (डॉ. शशि की ओर इशारा करते हुए) अभी थोड़ी देर पहले प्रेम के ढाई अक्षरों का जिक्र किया था। कितनी व्यापकता है इन ढाई अक्षरों में! और एक पंजाबी लोकगीत की बानगी देखिए—"मैंनूं अम्बर दा लहंगा सिवादे/बनजारया वे/मैनूं धरती दी लौं लवा दे(मुझे आसमान का लहंगा सिला दे, धरती की किनारी लगा दे—ओ बनजारे!) अगर अम्बर के लहंगे पर धरती की किनारी लगे तो देखिए कबीर के ढाई अक्षर कहां पहुंचते हैं? कविता है ही अध्यात्म। अध्यात्म कोई बाहर की चीज नहीं। हाशिम का कहना है—"उन्होंने खुदा को पहचान लिया।" भाई वीरसिंह की पंक्तियों का जायजा लीजिये—"आप तो सिर्फ़ रोशनी थे, हाथ नहीं छू पाए; हमारी कलाई कांपती रही।' वारिसशाह ने लिखा था—हीर आत्मा है और राझां जिस्म। पूरनसिंह ने इसी को एक नई डाइमेन्शन दी—बहन हीर/भाई रांझे! हमें छोड़कर मत जाओ/आपके बगैर हम खाली हो जाएंगे।

"कागज और कैनवस"—इस शीर्षक की क्या अर्थवत्ता है?

कैनवस से मेरा मतलब उससे है जो तखय्यल में आता है—'इलस्ट्रेशन्स' की मानिन्द। अपने ही पात्र अपने सामने साकार हो जाते हैं, खुद को दिखाई देते हैं। मेरा एक दुखान्त उपन्यास है—"आलना' (हिन्दी में वेश्या)। उसकी एक पात्र है—नीना। मुझे सपना आया कि वो रो रही है, जोर-जोर से रो रही है। काल्पनिक

पात्र होते हुए भी जैसे मैं उसकी शक्ल को पहचान रही थी। उसने रोते-रोते मुझसे कहा—तूने मेरा अंत ऐसा क्यों किया? मैं जीना चाहती थी यानि कि, मेरा ही किरदार मेरे ही नावल को कन्डेम कर रहा है, पूछ रहा है तूने ऐसा क्यों किया? आप जनते हैं कि टालस्टाय ने जब ''अन्ना कारनीना'' लिखा तो वे मन की खुश हालत में नहीं थे। जब नावल छपने लगा तो वे परेशान हो गये। ये नावल मुझे नहीं लिखना चाहिये था। मैंने ऐसे क्यों लिखा? अगर लिख लिया था तो इसे छपना नहीं चाहिये था।'' इस दर्द को बाद में डी.एच. लारेंस ने पहचाना। उन्होंने लिखा कि इस उपन्यास में यथार्थ है। लेकिन ये उस जिन्दगी की बात नहीं है जो जीने के काबिल हो। अन्ना कारनीना का दुखान्त एक शानदार मुहब्बत का दुखान्त नहीं है, वो दो कायर व्यक्तियों का दुखान्त है। ''अन्ना कारनीना'' से मुहब्बत करने वाला महबूब नहीं, एक सरकारी अफसर है इसलिए डी. एच. लारेंस ने लिखा—ये उपन्यास नहीं लिखा जाना चाहिए था। खाली यथार्थ की बात करना कोई बात नहीं है। वो छोटे स्तर का लेखन है, जब तक जिन्दगी की, जीने के काबिल जिन्दगी की बात न की जाये। मंटों ने भी यथार्थ लिखा था मगर ऐसे लिखा जैसे उसका एक टांका उधेड़ देना चाहते हों। काफ्का का यथार्थ घबराहट पैदा करता है। वो आतंक की रचना करते हैं। मगर, यथार्थ में लज्जत लेने वाला—प्रॉडक्ट ऑव ब्रूडिंग इमैजिनेशन, दूसरों को तकलीफ देकर तसल्ली ढूंढ़ना विकृत ''मैं' की बात है।

मैं अपने समय में जीना चाहता हूं

नववर्ष (1982) की पूर्व-सन्ध्या। नये साल के स्वागत की तैयारियों में व्यस्त दिल्ली की गहमागहमी से दूर आकाशवाणी भवन की पांचवीं मंजिल पर, दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक के कमरे में, प्रख्यात कथाकार उपन्यासकार कमलेश्वर से मेरी बातचीत हो रही थी। साहित्य, सिनेमा, दूरदर्शन और जिन्दगी के महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर हुई उस बातचीत के दौरान मेरे दो दोस्त डॉ. प्रेमशरण शर्मा और हरि प्रकाश त्यागी भी (बतौर गवाह) वहां उपस्थित थे। बातचीत के कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं:

प्रश्न : आपने अभिव्यक्ति के कई माध्यमों—उपन्यास, कहानी, नाटक, यात्रा, संस्मरण, सिनेमा, दूरदर्शन आदि का सहारा लिया। इसके क्या कारण रहे?

उत्तर : साहित्य मेरा आधारभूत माध्यम है, आधारभूत! विज्ञान और टेक्नॉलोज़ी के इस युग में सिर्फ किताबों तक हम स्वयं को रोक नहीं पाएंगे। अभिव्यक्ति हम केवल अभिव्यक्ति के लिए नहीं कर रहे बल्कि जनता तक पहुंच सकने के लिए कर रहे हैं। इसके लिए जो भी माध्यम है, मैं उसका इस्तेमाल करने के लिए तैयार हूं।

प्रश्न : शब्द, दूरदर्शन और सिनेमा, इनमें से किसके जरिए आपको सबसे ज्यादा सफलता मिली या फुलफिलमेंट का अहसास हुआ?

उत्तर : फुलफिलमेंट का कोई सवाल अभी मेरे सामने नहीं है। जब तक आदमी सफर में होता है, तब तक मंज़िल का सवाल नहीं होता। मैं अभी किसी मंज़िल पर नहीं पहुंचा हूं, मगर इसका ये मतलब नहीं कि मुझे अपनी मंज़िल मालूम नहीं। ये सफर मैं क्यों कर रहा हूं—मुझे मालूम है: ये सफर चाहे लिखित शब्दों के माध्यम से हो या बोले जाने वाले शब्दों के माध्यम से या फिर सिर्फ एक्सप्रेशन से या किसी भी माध्यम से। यह सफर मैं इसलिए करता हूं क्योंकि मैं समाज में, उसके मूल्यों में, आमूलचूल परिवर्तन एक सम्यक परिवर्तन चाहता हूं। जब तक यह मुझे हासिल नहीं होता मैं अपने शब्द, अपनी आवाज़, अपनी लेखनी, अपनी सोच, सबको इस्तेमाल करता रहूंगा। ये बात मेरे साथ समाप्त नहीं होगी—तमाम लोग हैं मेरे साथ जो यही काम कर रहे हैं और तमाम लोग रहेंगे जो ये काम करते रहेंगे।

प्रश्न : अपनी आत्मरचना : ''गर्दिश के दिन'' में आपने स्वीकार किया है कि आप आन्दोलनों के पक्षधर हैं। इसकी वज़ह?

उत्तर : वे लोग, जिन्होंने अभिव्यक्ति को, विशेषकर साहित्य को, व्यक्तिगत माध्यम बना लिया है, आन्दोलनों से घबराते हैं। आन्दोलन उन्हें इसलिए परेशान करते हैं क्योंकि एक साहित्यकार के रूप में जो व्यक्तिगत प्रतिष्ठा उनकी होनी चाहिए और होती है वो प्रतिष्ठा, अगर वे अलग नहीं होंगे तो उन्हें प्राप्त नहीं होती। मैं प्रतिष्ठा के लिए नहीं लिखता। मुझे इतिहास से भी कुछ लेना देना नहीं। साहित्य के इतिहास में नाम आता है या नहीं—यह अगला इतिहस तै करेगा। मुझे कोई चिन्ता नहीं। मैं अपने समय में जीना चाहता हूं। आज के समय में, इस समाज में जहां इतनी विषमताएं हों, कोई भी काम एक आन्दोलन के रूप में ही किया जाना चाहिए। जब तक वो सबका नहीं बनता, तब तक वो केवल आपका है। कमलेश्वर का नाम हो गया है, वो साहित्य में सुसज्जित हो गया है—साहित्यकार की यह स्थिति मुझे सन्तुष्ट नहीं करती। सुसज्जित होने के लिए मैं नहीं लिख रहा।

प्रश्न : आन्दोलन आपने कहानी में ही क्यों चलाए या चलाए गए? उपन्यास में क्यों नहीं?

उत्तर : कारण ये है कि साहित्य में अभिव्यक्ति की मेरी भूल विधा कहानी ही है।

प्रश्न : ''लघु उपन्यास' को प्रतिष्ठा दिलाने में आपके योगदान के महत्त्व को सराहा नहीं जा सकता। लघु उपन्यास और लम्बी कहानी में, तकनीक की दृष्टि से क्या अंतर है?

उत्तर : कला का एक अपना डिसिप्लिन होता है। इस रूप में देखें तो लघु कहानी, निश्चित रूप से एक ज्यादा बड़े कैनवास पर तो होती ही है उसकी अपनी एक तारतम्यता भी होती है। जबकि लघु उपन्यास समय के खंडों को तोड़कर बाहर भी निकल जाता है और इसके बावजूद लघु रहता है। समय के खंडों को तोड़ सकना! यह—कहानी में भी किया जाता है मगर ज्यादातर नहीं क्योंकि कहानी अपने में एक कम्पैक्ट विधा है जो एक जगह से चलकर दूसरी जगह पहुंचती हैं और अपनी बात तीर की तरह कहती है। उपन्यास या लघु—उपन्यास कालखंडों को भेदते हुए जब और आगे तक जाते हैं तो निश्चित रूप से अपने समय का अहसास भी देते हैं और आगे की बात भी कहने की कोशिश भी करते हैं। इसलिए लम्बी कहानी लघु उपन्यास के बजाय कहानी के ज्यादा नज़दीक होती है।

प्रश्न : आपने बड़े उपन्यास क्यों नहीं लिखे?

उत्तर : बड़े उपन्यास लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई मेरी अपनी कमजोरी है और वो ये कि में हमेशा एक बैठक में अपना काम करता हूं—बैठक का मतलब एक सिटिंग, ड्राइंग रूम नहीं। अगर मैं कहानी शुरू करूंगा तो समाप्त करके ही

उठूंगा। मेरे किसी लघु उपन्यास ने एक सप्ताह से ज्यादा समय नहीं लिया। कोई ढाई दिन में समाप्त हुआ तो कोई चार दिनों में अथवा तीन या पांच दिन में लगातार लिखता हूं।

प्रश्न : आन्दोलन आदमी को विवादास्पद बनाते हैं। आप विवादास्पद व्यक्ति रचनाकार रहे हैं। जबसे आप दूरदर्शन में आए हैं, लगता है कि किसी षड्यंत्र के तहत आपको जबरन विवादों के दायरे में घसीटा जा रहा है। आपका क्या ख़याल है?

उत्तर : ये मेरी नियति है। अब इसके लिए मैं क्या कर सकता हूं?

प्रश्न : कहीं चर्चा के केंद्र में रहने के लिए आप विवादास्पद होना तो नहीं चाहते?

उत्तर : नहीं, चर्चा के केन्द्र में रहने के लिए मेरे पास बहुत कुछ है। चर्चा केवल विवादों से नहीं होती। रचना से भी होती है। और फिर विवाद मेरा रचनात्मक समय भी तो ले जाते हैं। गलत विवादों में पड़ने की मैं कोशिश नहीं करता। विवादास्पद इसलिए हूं क्योंकि लोगों से यह बर्दाश्त नहीं होता कि आदमी साहित्य में भी काम करता है, पत्रकारिता के क्षेत्र में भी काम करता है। दो-दो आन्दोलनों के साथ जुड़ा रहता है। अपने समकालीनों के साथ चलता है। अपने समकालीन नए और नव्यतम लेखकों के साथ भी चल सकने की उसमें शक्ति है। उम्र से मैं किसी को नया लेखक नहीं मानता। मैं उसके विचारों से ही उसे नया लेखक मानता हूं। एक 60 बरस का आदमी बहुत नया हो सकता है और 22 बरस का आदमी रूढ़ और दकियानूस हो सकता है। फिर मैंने फिल्में भी लिखीं। वे इत्तफाक से सफल भी रहीं। दूरदर्शन पर भी मेरे कार्यक्रम : लोकमंच और परिक्रमा, पसन्द किए गए। अगर मुझमें स्टैमिना है, जिजीविषा—अपने विचारों के लिए जीने की ताकत—है और यह ताकत लोगों को अखरती है तो चुप रहने के सिवा मैं क्या कर सकता हूं? अगर कभी वे मुझे विवादों में घसीटतें हैं और मुझे लगता है कि कोई मूलभूत प्रश्न खड़ा हो गया है तो मैं जवाब देता हूं। अन्यथा विवाद आते हैं चले जाते हैं। नदी बहती रहती है। कचरा किनारों पर रुकता चला जाता है।

प्रश्न : आप दो कहानी आन्दोलनों में सम्बद्ध रहे। प्रवक्ता भी रहे और नायक भी। नई कहानी की प्रतिबद्धता और समान्तर कहानी की प्रतिबद्धता में क्या बुनियादी उत्तर है?

उत्तर : समय के फैलाव में देखें तो नई कहानी की प्रतिबद्धता उस समय की प्रतिबद्धता है जब हिन्दी कहानी की न अपनी पहचान थी, न अपनी प्रामाणिकता। सामान्य अनुभव का जिक्र भी उसमें नहीं दिखाई पड़ता था। हर कहानी पर ये स्टैम्प होती थी कि ये कहानी वैचारिक रूप से बड़ी प्रखर दिखाई पड़ रही है। नैतिकता और आदर्श का मुलम्मा था। सोचे हुए पात्र थे। विचार थे। कहानी गढ़ी जाती थी। रची नहीं। कहानी की भाषा बड़ी व्यक्तिगत बन गई थी। वहां से जब कहानी का संक्रमण हुआ तो उस समय की प्रतिबद्धता निश्चित रूप से

वामपंथी प्रतिबद्धता थी। मेरा मतलब किसी राजनीतिक वामपंथ से नहीं बल्कि उस वामपन्थ से है जो मानव का पक्षधर है। इसलिए हम अपने कस्बों की तरफ लौटे, अपनी गलियों, गांवों, शहरों की तरफ लौटे, अपने शहरी घरों, शहरी सम्बन्धों की तरफ लौटे और वहीं से हमने अपनी भाषा उठाई। इससे पहले जो कुछ लेखक सोचता था वही पात्र सोचते थे। इसलिए हर लेखक को उसकी रचना के माध्यम से खोजा जाता था। हम ये मानकर नहीं चलते थे। हमारी प्रतिबद्धता ये थी कि पात्र के विचार ही उसके विचार होने चाहिए।

प्रश्न : आपका कौन सा उपन्यास आपके ख्याल में सर्वश्रेष्ठ है?

उत्तर : मैं अभी किसी को सर्वश्रेष्ठ नहीं मानता। कारण यह है कि मैं अभी लिख रहा हूं। अभी आपने कहा था कि मैंने लघु उपन्यास लिखे हैं। लेकिन इस बार मैं एक बड़ा उपन्यास लिख रहा हूं—इसलिए नहीं कि लिख के दिखाना है। नाम है: "सुबह, दोपहर, शाम", अभी हाल ही में "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में इसका एक खण्ड सीरियलाइज़ हुआ था। बाद में दूसरा खण्ड होगा। ये उपन्यास 4 खण्डों में है। इसका कैनवास, 1800 से 1980 तक का है—करीब दो सौ वर्षों का इतिहास पात्रों के माध्यम से।

प्रश्न : इधर लेखकों का झुकाव इतिहास की ओर हो रहा है। श्रीकान्त वर्मा, कालिदास और उज्जैनी की पृष्ठभूमि पर कविताएं लिख रहे हैं। नरेन्द्र कोहली तो रामायण बांच ही रहे हैं। और "सुबह, दोपहर, शाम" में आप भी गदर यानी कि इतिहास की ओर लौटते दिखाई दे रहे हैं। इतिहास की ओर लौटने को क्या पलायन नहीं कहा जाएगा?

उत्तर : मैं इसे पलायन बिल्कुल नहीं मानता। अगर आप कालिदास पर आना चाहें या अश्वघोष पर या आगे चलकर तुलसीदास पर (हालांकि, तुलसीदास अब मुझे उतने संगत नहीं दिखाई पड़ते) और उसके बाद आप कबीर पर या निराला पर आना चाहें या यशपाल अथवा ऐसे ही अन्य लेखकों जैसे : प्रेमचंद, या मुक्तिबोध पर, तो आ सकते हैं क्योंकि ये तमाम लेखक अपने समय में संगत लेखन करते रहे हैं। अपने समय को अभिव्यक्ति देते रहे हैं और आज भी प्रासंगिक हैं।

प्रश्न : "खोई हुई दिशाएं", आपकी प्रसिद्ध कहानी है। इसमें वाचक यानी कि मैं कौन है, क्या आप स्वयं?

उत्तर : ज्यादातर, मैंने व्यक्तियों को लेकर कहानियां नहीं लिखीं और खुद पर कहानी लिखना मेरे लिए बेहद कठिन रहा है। इतना जरूर है कि "खोई हुई दिशाएं" में जो बात मैंने कहनी चाही वह मेरे अपने मानस की बात है, मगर वह मेरे समय के युवा मानस की बात भी है। जिन स्थितियों, परिस्थितियों और अंतर्विरोधों में हम अपने को पा रहे थे, उन्हें मैंने इस कहानी में देने की कोशिश की। वैसे अगर आप मुझे इस कहानी में खोजना चाहें तो इन्कार नहीं करूंगा।

प्रश्न : आपकी रचनाओं में आत्मकथात्मक ''एलिमेंट'' कितना है?

उत्तर : मैं समझता हूं कि बहुत अधिक नहीं है।

प्रश्न : आप बचपन में अपने पिता को ढूंढ़ते रहे। आपके चर्चित उपन्यास ''समुद्र में खोया हुआ आदमी'' में पिता अपने पुत्र को ढूंढ़ता है। उसकी खोज कभी पूरी नहीं होती। आपने अपने पिता से इस तरह बदला क्यों लिया?

उत्तर : बदला तो एक शब्द है।

प्रश्न : मगर यह आपका शब्द है?

उत्तर : जी हां, मेरी स्टेटमेन्ट है—''गर्दिश के दिन में,'' मुझे बड़ी खुशी है कि आपने मुझे सघनता से पढ़ा। वैसे उपन्यास में बात दूसरी कही गई है। मृत्यु से बड़ा कोई सत्य नहीं, लेकिन मैं मृत्यु की नहीं जीवन की बात कर रहा हूं। जो चीज़े जिन्दगी में मरती चली जा रही हैं उन्हें स्वीकार करने से जिन्दगी बहुत रफ्तार से बदलती है। लेकिन चीज़ें मरती चली जा रही हैं और उन्हें स्वीकार न करना, हमारी परम्परा बन गई हैं। इसलिए उस बीरेन या उस बच्चे, जिसकी मृत्यु हो जाती है या जो जहाज पर से गुम हो जाता है, उसकी मृत्यु को जब तक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता तब तक घर बिखरता नहीं अटका रहता है। जिस दिन उसकी मृत्यु को सब स्वीकार कर लेते हैं उस दिन से, आप देखिए, बहन का रास्ता दूसरा हो जाता है, पिता का दूसरा, पिता, मां से अलग हो जाता है। मेरे कहने का मतलब है कि जिन्दगी में जो चीजें मरती चली आ रही हैं उन्हें जल्दी स्वीकार करिए। जिन्दगी का रास्ता बदल जाएगा। इसलिए पुत्र का मरना एक सिम्बल है—परिवार के विघटन का।

प्रश्न : परिवार के विघटन और जिन्दगी के मूल्यों के ह्रास की बात, आपने अपनी रचनाओं में बड़ी प्रखरता से उठाई है। इस विघटन और अवमूल्यन के पीछे कौन-सी ताकते हैं?

उत्तर : हमारी जितनी रूढ़ियां हैं.......

प्रश्न : ये ताकतें क्या आज ज्यादा पावरफुल नहीं हो गई?

उत्तर : निश्चित रूप से और ज्यादा पावरफुल हुई हैं और ताकतें तो मनुष्यों में ही होती हैं.......इसलिए वे ऊपर से शायद ज्यादा आधुनिक दिखाई देने लगे हों लेकिन भीतर से वे कहीं और ज्यादा पथरीले हो गए हैं ऐसा इसलिए हुआ कि हमारे यहां जो आर्थिक विकास हुआ उसके जरिए आर्थिक शक्ति उन्हीं लोगों तक पहुंची जो रूढ़ या पथरीले थे।

प्रश्न : आज प्रगतिशील लेखन की क्या दिशा हो सकती है? क्या उपन्यासकार या कथाकार को किसी राजनीतिक पार्टी का प्रवक्ता होना चाहिए? जीवन और साहित्य में राजनीति का दखल बढ़ता जा रहा है।

उत्तर : हो सकता है मेरी बात को गलत भी समझा जाए मगर मैं कभी-भी लेखक से ये नहीं कहूंगा कि वो राजनीति से अलग रहे। अगर वो पार्टी से भी

जुड़ा हुआ है और समझदार है तो उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। पार्टी के दबाव में आकर लिखी गई रचनाएं अपने आप समाप्त होती चली जाती हैं। अपने अनुभवों से समर्थित सच्चाइयों को व्यक्त करने वाला लेखन ही प्रगतिशील लेखन है।

प्रश्न : आप दूरदर्शन में हैं और एक क्रिएटिव राइटर भी हैं। आपसे उम्मीद की जाती है कि जब आप यहां से जाएं, एक "टेम्पो" बना के जाएं, ऐसी बुनियाद डाल के जाएं कि जिसके दूरगामी प्रभाव हों, ताकि आपके जाने के बाद भी, दर्शकों को अच्छे कार्यक्रम देखने को मिलते रहें। ऐसी योजना है कोई?

उत्तर : पहली बात तो मैं आपसे बता दूं कि अभी यहां से जाने का मेरा कोई इरादा नहीं है.....(एक ज़ोरदार खनकती हुई हंसी.....)

प्रश्न : मैं बहुत दूर की बात कर रहा था। कोई पर्मानेन्ट इफेक्ट या लेगेसी आप छोड़ जाएं....

उत्तर : मैं समझता हूं किसी समय में, दिए गए समय में, जो आदमी किसी लक्ष्य के लिए काम करता है, उसके साथ अपने आपको इन्वॉल्व्ड मानता है। जिन्दगी में उसके लिए कुछ चीज़ें हमेशा तै होती हैं। उसके लिए वह कितनी ही चीजों का बलिदान भी देता है। मैं नहीं कहता कि मैंने कोई बलिदान दिया है मगर वो तमाम लोग जो आज दूरदर्शन में शामिल हैं, बलिदान कर रहें हैं। इसलिए मुझे लगता है कि दूरदर्शन की अपनी एक अलग संस्कृति पैदा हो रही है और होगी। और एक दफा जब एक संस्कृति पैदा हो जाती तो उस कल्चर में खुद इतनी शक्ति होती है कि वो तमाम चीजें बदलती चली जाती हैं। तो मैं ये नहीं कहूंगा कि व्यक्तिरूप में मैं क़ोई ऐसी "लेगेसी" छोड़ जाऊंगा। मगर एक संस्था के रूप में, दूरदर्शन अपने आप में एक आदर्श होगा। उसमें मेरा भी योगदान होगा। मेरे तमाम सहयोगियों, मेरे तमाम टेकनीशियनों और प्रोड्यूसरों का भी योगदान होगा.....ये कोई अकेला काम नहीं है। ये तो एक महायुद्ध है।

प्रश्न : अपने बाद के रचनाकारों के उपन्यासों—"छोटे-छोटे महायुद्ध", "मुर्दाघर", "उनका फैसला" "मृगांतक", "महामहिम" आदि.....के बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर : इन लोगों ने निश्चित रूप से उन स्थलों को छूने की कोशिश की है जिनको हम नहीं छू पाए।

प्रश्न : आपके समकालीनों—कृष्ण बलदेव वेद, निर्मल वर्मा आदि—और युवा रचनाकारों द्वारा लिखी जा रही रचनाओं में, क्या आपको कोई फर्क दिखाई देता है?

उत्तर : निश्चित रूप से दिखाई पड़ता है। नए रचनाकारों ने अपनी अभिव्यक्ति को और पैना किया है। उनके भीतर परिवर्तन की जो लालसा नई कहानी के दौर में पैदा की गई थी, वो लालसा और उत्कट हुई है। मुझे बहुत खुशी है। मैं अपने आपको भरा पूरा मानता हूं। आपको सही बताऊं, मैं एक

बहुत बड़े प्रेमचंद के परिवार से आया था। उस पूरी परम्परा के साथ आया था। उस परम्परा में आ गया था और उसके बाद एक बड़ी प्रगाढ़ परम्परा या कहिए कि एक "स्कूल", अगर आप इसे परम्परा न कहना चाहें, वो सामने नज़र आता है। मैं नहीं समझता कि साहित्य को, साहित्यिक उत्कटता को, साहित्य के भीतर परिवर्तन की जो उत्कट अभिलाषा और जो जिद पैदा हुई है उसे कोई अब रोक सकता है?

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि आज जो पीढ़ी लिख रही है, वो काफी आशाएं जगाती है?

उत्तर : सिर्फ आशाएं नहीं, इस बीच में दूरदर्शन में मैंने समय दिया या कुछ समय मैंने जीने के लिए फिल्मों में दिया। मैं नहीं कहता कि मैंने कोई परिवर्तन किया लेकिन इतना जरूर था कि परिवर्तन के जो चिन्ह, फिल्मों में भी नज़र आ रहे थे मैंने उन्हें ही रेखांकित करने की कोशिश की। इस रूप में....आशा...कहना तो उन लोगों की बात है जो आशीर्वाद देते हैं। मेरे पास तो आशीर्वाद है ही नहीं। मैं अभी आर्शीवाद देने लायक भी नहीं और शायद कभी होऊंगा भी नहीं, क्योंकि मैं समझता हूं कि मेरी तो दोपहर ही दोपहर है। जितने लोग आते चले जाएंगे, वो सब मेरे समकालीन होंगे और मैं जानता हूं कि जो काम मैं पूरा नहीं कर पाया, उसे वो पूरा करेंगे।

प्रश्न : सम्पादन और फिल्म लेखन ने क्या आपके लेखक को प्रभावित किया।

उत्तर : नहीं मैं समझता हूं मुझे इससे लाभ हुआ। कारण इसका ये है कि पत्रकारिता की तात्कालिकता उसकी भाषा, उसके भीतर चलता हुआ पैनापन, साहित्य की स्थिरता, लोगों तक पहुंच सकने का फिल्म का नजरिया और घरों में जाके आपके साथ बात करने की दूरदर्शन की सुविधा—इनके जरिए मुझे जनता की नब्ज पहचानने का मौका मिला, साहित्य दूरदर्शन, पत्रकारिता और फिल्म, ये चारों मेरे लिए एक दूसरे के अनुभव को क्रॉस-फर्टिलाइज करते हैं। एक सब्जीवाली की अंधी सास रहती थी। वह नहीं जानती थी कि उसकी सास क्या खाती है और कैसे रहती है। मगर त्यौहार पर अपनी सास को एक धोती वह जरूर भेज दिया करती थी। मेरे कुरेदने पर उसने तर्क दिया—जो और साहित्यकार नहीं दे सकता—मैं अपनी सास को भूखा तो रख सकती हूं नग्न नहीं।

प्रश्न : मुझे उस हलवाई की बात याद आ रही है—जिसका हवाला आपने गर्दिश के दिन में दिया है—इस दुनिया का बाप नहीं। चाहे जितने रामजी सजाओ, चाहे कितने रावण जलाओ।

उत्तर : मैंने कहा ही है कि वो हलवाई मेरा प्रेमचंद है।

प्रश्न : आपने कहा था कि साहित्यिक दृष्टि आपको प्रेमचंद से प्राप्त हुई और जीवन दृष्टि अपने कहानीकार पिता उस हलवाई से। जीवन दृष्टि और

साहित्यिक दृष्टि में क्या अन्तर है।

उत्तर : पहले था। इस खाई को आज के लेखक ने पाट दिया है। उसकी जीवन दृष्टि, रहन, सहन, सोचना और लिखना बहुत कुछ पास आ गया है। पहले लेखक रहते और तरीके से थे, सोचते और तरीके से थे। लिखते और तरीके से थे। बड़े सघन अंतर थे, बड़े गहरे अंतर थे। अचानक ही किसी लेखक को देखकर आप पहचान नहीं पाते कि उसी आदमी ने वो सब लिखा होगा। उनके लेखन में शैली थी लेकिन वो शैली उनके रहन-सहन, सामाजिक और नैतिक व्यवहार में नहीं थी। नैतिकता, समय की मूल्यवत्ता, प्रमाणिकता, प्रतिबद्धता, सम्बद्धता और रचनात्मक ऊर्जा–ये सब जब मिलते हैं तब जाके एक लेखक बनता है। आज का लेखक इस तरह की कम्पोजिट पर्सनैलिटी में परिवर्तित हो चुका है।

प्रश्न : किसी पश्चिमी साहित्यकार ने आपको लेखन से प्रभावित किया। किसी से प्रेरणा आपको मिली।

उत्तर : बिल्कुल प्रभावित नहीं किया। किसी से मुझे प्रेरणा भी नहीं मिली क्योंकि मुझे लगा कि पश्चिम के लेखक निश्चित रूप से युद्ध से ध्वस्त संस्कृति की बात कर रहे थे। उन्हें पढ़कर भी और यूरोप जाकर देखकर भी मैंने महसूस किया कि अवसाद, अजनबीपन, अकेलेपन और निराशा का जो चित्रण उन्होंने किया और उसके साथ पुलिटिकलाइज करके आशा का एक उपाय ढूंढ़ने की जो कोशिश उन्होंने की वो उनके समय और इतिहास की जरूरत थी।

प्रश्न : अपने बाद के रचनाकारों के उपन्यासों–"छोटे-छोटे महायुद्ध", "मुर्दाघर" "मृगान्तक" "महामहिम", "उनका फैसला" आदि-के बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर : इन लोगों ने निश्चित रूप से उन स्थलों को छूने की कोशिश की है जिनको हम नहीं छू पाये।

प्रश्न : आपका पहला उपन्यास कौन-सा था?

उत्तर : "एक सड़क सत्तावन गलियां" जो बाद में बदनाम बस्ती के नाम से छपा। नाम गलत चला गया था।

प्रश्न : क्या आप समकालीन उपन्यास या कहानी की भाषा से संतुष्ट हैं?

उत्तर : थोड़ा-सा असन्तुष्ट हूं। होता ये है कि साहित्य की भी अपनी रूढ़ियां होती हैं। और लेखक का काम है निरन्तर नया होते रहना, अपनी रूढ़ियों को तोड़ते रहना। नहीं तो नये का कोई मतलब नहीं होता। अगर हमने नई कहानी की बात की थी तो केवल पुरानी कहानी के सिलसिले में नहीं की, निरन्तर नये होते रहने की प्रक्रिया के संदर्भ में की थी। इस रूप में मुझे आज की भाषा "आरकेइक" लगती है। कहीं पर लगता है कि भाषा बहुत अभिधात्मक हो गई है। भाषा में डाइरेक्टनेस तो आई है मगर अभिधात्मक होते चले जाने से भाषा में इकहरापन भी आया है, जो नहीं आना चाहिए। मुझे लगता है कि भाषा कई

स्तरों पर चलती है।

प्रश्न : "काली आंधी" और "वही बात"—इन दोनों उपन्यासों में आपने महत्त्वाकांक्षा और सफलता की क्रूरता को रेखांकित किया है। क्या आप भी इसके शिकार हुए?

उत्तर : मेरी जिन्दगी में कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं रही।

प्रश्न : मगर आप एक सफल व्यक्ति हैं और महत्त्वाकांक्षाविहीन व्यक्ति कैसे सफल हो सकता है?

उत्तर : एक बात तो ये कि मैं कभी कोई चीज मांगने नहीं गया। यहां दूरदर्शन में भी आया हूं तो मैंने किसी से कुछ नहीं मांगा। साहित्य में भी आया था तो किसी आलोचक के पास मैं नहीं गया था। मैंने अपने किसी अग्रज से आशीर्वाद भी नहीं लिया था कि मैं साहित्य में चला जाऊं, बल्कि बहुत से लोगों को ये बुरा भी लगा था कि मैंने आशीर्वाद क्यों नहीं लिया। इसलिए विरोध भी बहुत हुआ। मैं आशीर्वादों की परम्परा को पसन्द नहीं करता। दूसरी चीज ये है कि महत्त्वाकांक्षा अपने समय के लिए होनी चाहिए। अपने लिए क्या महत्त्वाकांक्षा हो सकती है इस देश में? यहां, जहां सामाजिक और आर्थिक न्याय की कमी है, विषमताएं हैं, शोषण है। क्या हम अपने समाज से अलग पड़ जाएं? दूरदर्शन का काम मैं महत्त्वाकांक्षा के तहत नहीं बल्कि एक मिशन के तौर पर कर रहा हूं।

साहित्य की सांस्कृतिक यात्रा

कोई भी लेखक जब किसी दूसरे देश में जाता है तो वह सिर्फ सैलानी की भूमिका ही अदा नहीं करता बल्कि दो संस्कृतियों के बीच परस्पर साक्षात्कार का माध्यम भी बनता है। साहित्य के माध्यम से दो विभिन्न संस्कृतियों के परस्पर साक्षात्कार की पुरानी और स्वस्थ परम्परा की सार्थकता—कालिदास, होमर, शेक्सपियर, दान्ते गेटे आदि महाकवियों की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और उनके कृतित्व की सांस्कृतिक प्रतीकात्मकता में ढूंढ़ी जा सकती है।

भारतीय मानस के जरिए भारतीय संस्कृति तक पहुंचने की कोशिश से सम्बद्ध जिस सांस्कृतिक खोज-यात्रा की ऐतिहासिक शुरुआत मैक्समूलर ने की थी, उसमें शामिल प्रसिद्ध समकालीन यूगोस्लाव कथाकार—उपन्यासकार श्रीमती ग्रोजदाना ओलुयिच भारत तथा अमेरिका और यूरोप के लगभग एक दर्जन देशों का भ्रमण भी कर चुकी हैं। उनकी कृतियां पुरस्कृत और विश्व की कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। साहित्य के माध्यम से संस्कृति की खोज के संदर्भ में अनुवाद की भूमिका के महत्त्व को मादाम ओलुयिच बखूबी जानती हैं। भारतीय कविता की गंभीर अध्येता श्रीमती ओलुयिच कृत महत्त्वपूर्ण समकालीन भारतीय कवियों की श्रेष्ठ कविताओं के ''सर्बो-क्रोएशन'' रूपान्तरों का 1980 में बेलग्राद की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थाः 'राद' द्वारा प्रकाशित कविता संग्रह : ''रोशनी को न्योतते हुए'', उनकी परिष्कृत काव्य रुचि और अनुवाद-क्षमता को ही नहीं बल्कि, भारत और यूगोस्लाविया के बीच नेहरू और टीटो द्वारा शुरू किये गये आत्मीय संवाद की अर्थवत्ता के विस्तार के संदर्भ में एक लेखक की भूमिका के महत्त्व को भी रेखांकित करता है। वास्को पोपा के देश में इस संग्रह का आलोचकों और कविता प्रेमियों द्वारा अभूतपूर्व स्वागत किया गया। इस ऐतिहासिक कार्य के संदर्भ में सन् 1982 में 10 फरवरी को एक मुलाकात के दौरान अंग्रेजी में हुई इस टिप्पणीकार और श्रीमती ओलुयिच की बातचीत यहां हिन्दी में दी जा रही है :

प्रश्न : आज से पांच वर्ष पहले भी हम दिल्ली में मिले थे—आपको याद होगा? सन् 1977 की आपकी भारत यात्रा का परिणाम मेरे सामने है। मेरा इशारा 220 समकालीन भारतीय कविताओं के संग्रह के ''सर्बो-क्रोएशन'' संस्करण की ओर है। इस बार की आपकी यात्रा का उद्देश्य क्या है?

उत्तर : यह मेरी तीसरी यात्रा है। मैं पहली बार सन् 1967 में भारत आई थी। मुझे याद है कि 1977 में आपसे मिली थी और आपकी कुछ कविताओं के मैंने अनुवाद भी किये थे जो युगोस्लाविया की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में छप भी चुके हैं। भारत से मेरा संबंध काफी पुराना है। भारतीय मानस और संस्कृति को जानने की प्रेरणा मुझे स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू की विश्व विख्यात पुस्तक : "डिस्कवरी ऑफ इंडिया" से मिली। इसके बाद मैंने भारतीय पौराणिक साहित्य का अध्ययन किया। रामायण, महाभारत, गीता और पुराणों के अध्ययन ने मुझमें भारत भ्रमण की इच्छा पैदा की। भारत की धरती पर कदम रखते ही आधुनिक भारतीय साहित्य के चुम्बकत्व ने मुझे अपनी ओर खींच लिया। आजकल मैं भारतीय कथा साहित्य पर काम कर रही हूं।

प्रश्न : किन भारतीय साहित्यकारों की रचनाओं ने आपको आकर्षित किया?

उत्तर : टैगोर, प्रेमचंद, मुल्कराज आनन्द, अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, शिव कुमार बटालवी, श्रीकान्त वर्मा, अमृता प्रीतम, कमलेश्वर, कमलादास आदि लेखकों की रचनाएं पढ़ना मैं पसन्द करती हूं।

प्रश्न : "सर्बो-क्रोएशन" भाषा में किन भारतीय रचनाकारों का कृतित्व उपलब्ध है?

उत्तर : टैगोर, प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार, मुल्कराज आनन्द की कुछ रचनाओं के सर्बो-क्रोएशन" रूपान्तर उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी कविताओं का एक संग्रह भी उपलब्ध है। अनुवाद और सम्पादन जागरेब विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक डा. एस. जैन ने किया है।

प्रश्न : समकालीन भारतीय कविता पर काम करने की प्रेरणा आपको कहां से मिली?

"रोशनी न्योतते हुए"—इस शीषर्क के चुनाव के पीछे कोई तर्क?

उत्तर : भारत के प्रति मेरे मन में असीम प्यार है। इसी प्रेम ने मुझे समकालीन भारतीय कविता से, "सर्बो-क्रोएशन" भाषा के पाठकों को परिचित कराने की प्रेरणा दी। शीर्षक के चुनाव के सन्दर्भ में मैं केवल यही कहना चाहूंगी कि मेरे ख्याल में कविता लिखते वक्त कवि, प्रेम, रोशनी और दोस्ती को निमन्त्रित करता ही है और फिर चूंकि मैं अपनी भाषा में एक दूसरे देश की प्रमुख भाषाओं में लिखी जा रही कविता का संग्रह तैयार कर रही थी इसलिये मुझे तो विदेशी मेजबान होने के नाते, एक अनुवादक की हैसियत से, यूगोस्लाविया के कविता-प्रेमियों की दुनिया के लिए भारतीय कविता की रोशनी आमन्त्रित करनी ही थी।

प्रश्न : हिन्दी तो आप जानती नहीं। कोई और भारतीय भाषा (अंग्रेजी के अतिरिक्त) भी आप नहीं जानतीं। फिर, कविताओं का चुनाव आपने कैसे किया? क्या अपने किसी से सलाह ली?

उत्तर : दरअसल जब 1967 में मैं पहली बार भारत आई थी तभी से मैंने समकालीन भारतीय कविता से सम्बद्ध सामग्री बटोरनी शुरू कर दी थी। किताब

का प्रारूप मेरे जहन में उभरने लगा था। अंग्रेजी, रूसी और फ्रांसीसी भाषाओं में उपलब्ध सामग्री बटोरने में मुझे काफी समय लगा। दूसरी बार जब मैं भारत आई तो मैंने बम्बई, दिल्ली और बनारस के कई विद्वानों, प्राध्यापकों, साहित्य अकादमी के अधिकारियों और सुरेश कोहली, महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, अमृता प्रीतम आदि कई भारतीय लेखकों से बातचीत की, उनसे उनकी पसन्द के भारतीय कवियों के नामों की सूचियां बटोरी। फिर मैंने अपनी सूची बनाई। ''सर्ब्रो-क्रोएशन'' भाषा में 220 कविताओं को रूपान्तरित करने में मुझे 5 साल लग गये। किताब 1980 में प्रकाशित हुई। 400 पृष्ठों की इस किताब में 126 भारतीय कवियों की 220 कविताएं संग्रहीत हैं। पहला संस्करण 6000 प्रतियों का था। इस संग्रह में अज्ञेय (हिन्दी), जीभनानंद दास (बंगाली), उमाशंकर जोशी (गुजराती), कमलादास (मलयालम), फिराक गोरखपुरी (उर्दू) अमृता प्रीतम (पंजाबी), सीताकान्त महापात्र (उड़िया), बसन्त बापट (मराठी) हेम बरुआ (असमिया) इरावतम (तमिल), गोकाक (कन्नड़) और क्रिसिन खटवानी (सिंधी), आदि अनेक महत्त्वपूर्ण भारतीय कवियों की कविताएं शामिल हैं। पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो और दूरदर्शन पर युगोस्लाविया में इस पुस्तक की काफी चर्चा हुई। भारतीय कविता की गुणवत्ता से यूगोस्लाव कविता प्रेमी और आलोचक बेहद प्रभावित हुए।

प्रश्न : आपके विचार में, आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक कविता की मुख्य धारा के सदर्भ में समकालीन भारतीय कविता का क्या स्थान है?

उत्तर : समकालीन भारतीय कविता की अपनी अलग विशिष्ट पहचान है। इसकी जड़ें भारतीय परम्परा में गहरी धंसी हुई है, मगर यह दुनिया के सभी देशों के कविता प्रेमियों से बात कर सकती है क्योंकि इसमें, बौद्धिक उन्मेष और भावनात्मक आवेग का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है।

प्रश्न : यूगोस्लाव कविता की विशिष्टता के बारे में क्या आप कुछ कहना चाहेंगी?

उत्तर : यूगोस्लाविया की तीन प्रमुख भाषाएं हैं—(1) सर्ब्रो-क्रोएशन, (2) स्लोवानियन और (3) मेसेडॉनियन। इन भाषाओं की कुछ कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद मैंने आपको दिये हैं। इनकी गुणवत्ता आप स्वयं जांच सकते हैं। समकालीन यूगोस्लाव कविता के संदर्भ में देसन्का मावसिमोविच (यूगोस्लाविया की महादेवी वर्मा) वास्को पोपा, स्तेवान राइत्सकोविच, ईवार बी. लालिच, देन जाइच, वेस्ना पारुत, ब्लेजो कोनेस्की आदि महत्त्वपूर्ण कवियों का उल्लेख करना जरूरी है।

प्रश्न : यूगोस्लाविया की युवा पीढ़ी आपके उपन्यासों को बेहद चाव से पढ़ती है। इसका क्या कारण है?

उत्तर : मेरे उपन्यासों के केन्द्र में युवा पीढ़ी की समस्याएं हैं। अस्मिता, प्रेम, दोस्ती और रागात्मकता की तलाश करते युवा पात्रों के इर्द-गिर्द मैंने अपने उपन्यासों

के कथानक बुने हैं। मसलन ''जंगली बीज'' की नायिका ''लिका'' को ही लीजिए। यह अनाथ लड़की द्वितीय महायुद्ध के दौरान मां-बाप में बिछुड़ गई। किशोरावस्था शिशु-गृह में बीती। लिहाजा एक दिन वह अपने मां-बाप और स्वयं अपनी तलाश में निकल पड़ती है। लिका की यह तलाश क्या द्वितीय महायुद्ध के बाद के समूचे यूरोप की तलाश नहीं है? आजकल मैं एक उपन्यासः ''ईश्वर का कुत्ता'' पर काम कर रही हूं। मेरी कहानियों का एक संग्रह : ''एक अफ्रीकी नीलपुष्प'' प्रेस में है। मगर फुलफिलमेंट का एहसास मुझे अपने परीकथा संग्रह : ''सीपिया गुलाब'' के जरिये हुआ। अब तक इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। इस पुस्तक के लिए मैं दो बार पुरस्कृत भी हो चुकी हूं। मुझे खुशी है कि जिस दुनिया की सृष्टि मैंने की उसे यूगोस्लाव बच्चों ने अपना लिया। यों मेरी परीकथाओं के वयस्क पाठक भी हैं। ''सीपिया गुलाब'' के रूसी संस्करण की एक लाख प्रतियां छपी थीं।

प्रश्न : विज्ञान और टैक्नॉलोजी के इस युग में परीकथाओं की क्या प्रासंगिकता है?

उत्तर : मेरा ख्याल है कि लोगों को सपनों और फंतासियों की भी उतनी ही जरूरत है जितनी कि दाल-रोटी की। यही वजह है कि लोग आज भी परीकथाएं पढ़ते हैं।

प्रश्न : क्या भारतीय भाषाओं में यूगोस्लाव साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है?

उत्तर : नहीं मगर मुझे उम्मीद है कि निकट भविष्य में यह कमी दूर हो जायेगी।

कविता की सांस्कृतिक यात्रा

ग्यारह मार्च 1982 की दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण शाम। प्रसिद्ध युवा बल्गारी कवयित्री मिरयाना बाशेवा के सम्मान में "इंडो बल्गेरियन लिटररि क्लब' द्वारा आयोजित सभा की आत्मीयता, सार्थक संवाद की गम्भीरता और सौहार्द की तरलता में शराबोर बल्गारी सांस्कृतिक केन्द्र का सभागार.....उपस्थित जन.....बल्गारी और भारतीय संस्कृतियों के इस महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार के चश्मदीद गवाहों में, इसके माध्यम बने, जगदीश चतुर्वेदी, डॉ. गंगाप्रसाद विमल, राजेन्द्र अवस्थी....और कुछ युवा लेखक भी मौजूद थे। उक्त साक्षात्कार के जरिए इस निष्कर्ष पर पहुंचना कतई मुश्किल न था कि कवि (लेखक भी) अपने देश में सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता और विदेशों में सांस्कृतिक दूत की अहम भूमिका अदा करता है। उक्त साक्षात्कार से सम्बद्ध अनुभव के विस्तार और बल्गारी कविता की युवा पीढ़ी की सांस्कृतिक सोच और सामाजिक सराकारों की जानकारी के जरिए बल्गारी संस्कृति की खोज की खातिर इस टिप्प्पणीकार और मिरयाना के बीच कादम्बिनी के दफ्तर में बारह मार्च की शनिवारीय दोपहर में हुई बातचीत यहां दीं जा रही है :

विनोद : कल शाम जो संवाद आपने भारतीय लेखकों से कायम किया था, उसी के नैरंतर्य को बनाए रखने के लिए मैं आपसे बातचीत करना चाहता हूं। क्यों न आपके विस्तृत परिचय से ही शुरूआत की जाए?

मिरयाना : मेरा जन्म बल्गारिया की राजधानी सोफिया में 1947 में हुआ–1944 की "सितम्बर क्रांति" के लगभग तीन वर्ष बाद। मेरी मां नर्स थीं और पिता राजनयिक। पिता की साहित्य में गहरी रुचि थी। सोफिया विश्वविद्यालय में मैंने अंग्रेजी और रूसी भाषाशास्त्र का अध्ययन किया। कविता लिखनी मैंने पच्चीस वर्ष की उम्र से (काफी देर से) शुरू की। दूरदर्शन और "पितृभूमि" नामक पत्रिका के लिए स्वतंत्र लेखन भी किया। आजकल बल्गारी चलचित्रकला विभाग की कथाचित्र शाखा में पटकथा के सम्पादन से सम्बद्ध हूं।

अब तक मेरे दो कविता संग्रह : "एक हठी आदमी" और "जाड़े का मन्द संगीत" छप चुके हैं। बल्गारी पॉप गायकों के लिए मैं गीत भी लिखती हूं। अब तक रूस, अमेरिका और यूरोप के कई देशों की सैर कर चुकी हूं। पिछले वर्ष मैंने प्रख्यात बल्गारी फिल्मकार रागेल वाल्चनोव–जो संयोग से मेरे पति भी हैं....

(खनकती हुई हंसी) के सहयोग से एक फिल्मनाटक भी लिखा है, जिसे वे जुलाई में फिल्माएंगे। मेरी एक बेटी है जो चौदह वर्ष की है। बस यही है मेरी जीवनी। मेरा ख्याल है काफी परिचय हो चुका इससे ज्यादा है भी कुछ नहीं।

विनोद : आप बल्गारी युवा कविता पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस पीढ़ी के कवियों की आकांक्षा का लक्ष्य क्या है? क्या आप भी मानती हैं कि समकालीन कवि की प्रासंगिकता सामाजिक प्रतिबद्धता से जुड़ी हुई है?

मिरयाना : इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे युग की सामाजिक प्रतिबद्धताएं और खासकर उनके नैतिक और व्यवहारिक पक्ष युवा बल्गारी कविता पीढ़ी की महत्त्वाकांक्षाओं (और प्रेरणा स्रोतों) का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह स्वभाविक ही है क्योंकि हमारे देश की परम्परा भी यही रही है।

विनोद : आधुनिक बल्गारी कविता के संदर्भ में आपकी पीढ़ी का क्या कोई विशेष योगदान है?

मिरयाना : हां, है। हमारी पीढ़ी अभिव्यक्ति की वे बड़बोली घोषणात्मक मुद्राएं छोड़ चुकी है, जो पूर्ववर्ती कविता की कुछ हद तक, विशेषताएं समझी जाती थीं। युवा कवि अपने सूक्ष्म कथ्यों का कवितान्तर ज्यादा कलात्मकता और दक्षता से करते हैं। इनकी रचनाएं अधिक परिष्कृत हैं और भाषा अधिक सहज। यहां तक कि इनकी भाषा में समकालीन अपभाषा (स्लैंग) के कुछ तत्त्व, वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली, बोलियों के शब्द और भी न जाने क्या-क्या समाहित हैं। आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति तेजी से उभर रही है। पूर्वाग्रही व्यक्ति शुरू-शुरू में इस प्रवृत्ति को आत्मकेन्द्रितात्मकता से जोड़ता है मगर यह सच है कि युवा बल्गारी कवि सबसे ज्यादा निर्मम स्वयं अपने प्रति है और यह निष्पक्ष आत्मालोचना का प्रमाण यह दृढ़ और गुणी व्यक्तित्व—अच्छे समाज की नींव—गढ़ने के लिए बेहद जरूरी है।

मैं तो कहूंगी कि हमारी पीढ़ी के सरोकार, रागात्मकता और नैतिक सिद्धांतों की शिक्षा के जरिए देश के नैतिक विकास से जुड़े हुए हैं। मानवीय मूल्यों से संबद्ध युद्धों, ह्रास, पतन अथवा विजयों को सार्वभौम भाषा में रूपान्तरित करने के लिए आत्मविश्लेषण और अवचेतन तक का काव्यात्मक निरुपण, आदर्श माध्यमों में से है।

और जो लेबल हम लोग मूल्यों पर लगाते हैं, वे निरन्तर बदलते हैं मगर मूल्य मेरे ख्याल से वही रहते हैं—युगों तक।

विनोद : "ऑब्जोर" और "बल्गेरियन हॅराइजन" जैसी प्रतिनिधि पत्रिकाओं में युवा पीढ़ी को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। क्या इच्छित अथवा निर्धारित स्तर तक आने में नये रचनाकारों को समय लगेगा?

मिरयाना : इसमें कोई शक नहीं कि कविता छपवाने में नये कवियों को वक्त भी लगता और प्रयत्न भी करने पड़ते हैं। और देशों की मानिन्द हमारे मुल्क से भी कवि को पहले अपनी पहचान स्थापित करनी पड़ती है। इसके बाद ही प्रमुख पत्रिकाएं उनकी रचनाएं छापनी शुरू करती हैं। वैसे लेखक संघ युवा लेखकों के

प्रति काफी उदारता बरतता है और उनकी मदद भी करता है। युवा रचनाकारों की पहली कृतियों को खासतौर से प्रकाशित करने के लिए एक प्रकाशन गृह की सेवाएं भी उपलब्ध हैं। कई अखबार और साहित्यिक पत्रिकाएं भी युवा लेखकों की रचनाएं छापती हैं। हमारे देश में कविता बहुत जयादा बिकती है और युवा कवि (युवा, किन्तु श्रेष्ठ) पाठकों में वेहद लोकप्रिय हैं—यह बताते हुए मैं अत्यन्त गर्व महसूस करती हूं।

विनोद : क्या युवा पीढ़ी के कृतित्व में इतिहास सम्मत आशावाद दिखाई देता है?

मिरयाना : मेरे ख्याल में तो दिखाई देता है—बशर्ते कि आप जानते हों कि उसे कहां और कैसे खोजना है। सतह पर यह शायद ही दिखाई दे। आपको अन्तर्निहित अर्थ की गहराई में बसना पड़ेगा। यही नहीं, युवा पीढ़ी की अभिव्यक्ति की शैलियों में व्यंग्योक्ति और आत्मव्यंग्य के माध्यम से व्यक्त संशयवाद के लहजे की गुजाइंश भी है। बल्गारी कविता की उल्लेखनीय विशेषता है—प्रबल विनोद वृत्ति (सेन्स आफ ह्यूमर)। यहां तक की नितान्त गीतात्मक प्रेम कविताओं में भी "हास्य" घुस चुका है। व्यंग्य का विशेपाधिकार छिन चुका है। मेरे विचार में सिर्फ आशावादी ही विनोदवृत्ति से लैस होता है। अतः स्पष्ट है कि युवा पीढ़ी के कृतित्व में इतिहास सम्मत आशावाद है।

विनोद : आपको मालूम है कि आपकी कुछ कविताएं भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। क्या आप आधुनिक भारतीय कविता से परिचित हैं?

मिरयाना : अब तक मुझे यही पता था कि श्रीमती अमृता प्रीतम ने मेरी एक कविता का पंजाबी में अनुवाद किया है। कल शाम गोष्ठी में आपने और डॉ. गंगा प्रसाद विमल ने जब मेरी कविताओं को हिन्दी में सुनाया तो यह जानकर कि आपके काव्यमय देश में मेरी कविता बिल्कुल अजनवी नहीं है, मुझे बेहद खुशी हुई। दुर्भाग्य से मैं आधुनिक भारतीय कविता से अपरिचित हूं, मगर अब इस कमी को दूर करने का प्रयत्न करूंगी।

विनोद : कथाचित्रों की पटकथा के सम्पादन और पत्रकारिता की दुनिया से कविता की दुनिया में लौटते वक्त आपको कैसा लगता है?

मिरयाना : पत्रकारिता मेरा पेशा है और मैं इसे प्यार करती हूं। अव रहा कविता लिखने का सवाल, यह बिल्कुल अलग चीज है। मेरे ख्याल से आपके सवाल के उत्तर से कतराना ही मेरे हित में होगा अन्यथा मुझे जवाब देने के लिए घण्टों तक लिखते रहना होगा या फिर एक नई कविता रचनी होगी। अतः अन्तोनचेखव के शब्दों का भावानुवाद कर मैं छुटकारा पाना चाहूंगी : पत्रकारिता मेरा पेशा है और कविता मेरी प्रेमिका जिससे मैं छुप कर मिलता हूं।

विनोद : क्या आप यहां पहली बार आई हैं। कव तक ठहरेंगी। कौन-कौन से शहर/दर्शनीय स्थल अब तक आप देख चुकी हैं।

मिरयाना : मैं यहां पहली वार (उम्मीद है अन्तिम नहीं) आई हूं। दो महीने रहूंगी। अभी तक मैं वाराणसी, इलाहाबाद, वम्बई, औरंगावाद, एलोरा और अजन्ता की गुफाओं, त्रिवेन्द्रम, थेंकेडी वन्य जीवन सुरक्षा-स्थल (प्रोजैक्टटाईगर), कन्याकुमारी और दिल्ली की सैर कर चुकी हूं। अव मद्रास, श्रीनगर और सुदूर दक्षिण की यात्रा करने का इरादा है।

विनोद : मैं भारत और भारतवासियों के बारे में आपकी राय जानना चाहूंगा। क्योंकि जब कोई लेखक या कवि किसी दूसरे देश में जाता है तो वह सिर्फ सैलानी ही नहीं होता बल्कि दो संस्कृतियों के परस्पर साक्षात्कार का माध्यम भी वनता है।

मिरयाना : आपके देश और देशवासियों के बारे में अपनी राय जाहिर करना काफी कठिन, लगभग असंभव है। जिस क्षण मैंने हिन्दुस्तान के हवाई अड्डे की जमीन पर कदम रखा, मैं तभी से मन्त्रमुग्ध हूं। भारत भ्रमण के दौरान अव तक मैं निरन्तर शाश्वत सम्मोहन की चौंधियाती रोशनी में घिरी रही हूं। मैं सिर्फ नजारों की बात नहीं कर रही, प्राचीन मन्दिर अथवा प्राकृतिक भूदृश्य....या वो लोग जिन्हें हम हर कहीं मिलते हैं, मेरी सांस मेरे मन/मस्तिष्क को मुझसे छीनकर अपने साथ ले जाते हैं। प्रधानमंत्री, सीधे सादे देहाती, संभ्रांत और अनपढ़ लोग......हम हर तरह के लोगों से मिलते हैं और मैंने पाया कि भारतवासियों की सवसे बड़ी और मन-मोहक खूबी, उनके संस्कारों में गहरी धंसी, हर चीज और व्यक्ति के लिए सहिष्णुता है और मुझे यह भी यकीन है कि यह महज सुशीलता नहीं वल्कि जिन्दगी की एक पारम्परिक अवधारणा-एक दर्शन है।

विनोद : हम लोग मनुष्य के त्रिआयामी विकास में यकीन रखते हैं—(1) शारीरिक (2) मानसिक/बौद्धिक और (3) आत्मिक। यही नहीं हमने काम और अध्यात्म में भी सम्बन्ध खोजने की कोशिश की है। खजुराहो की मिथुन-मूर्तियां देखिए।

मिरयाना : मनुष्य के त्रिआयमी विकास की अवधारणा से मैं प्रभावित हुई हूं। आत्मिक विकास की चिन्ता महत्त्वपूर्ण है और हर देश के दर्शन में यह पक्ष उपस्थित रहना चाहिए। इसे धार्मिक दृष्टिकोणों से जोड़कर नहीं देखना चाहिए। मगर मैं थोड़ा पक्षपात कर रही हूं। क्योंकि कविता आखिर है क्या? आत्मा की अभिव्यक्ति ही न। मुझे गर्व है कि हमारे मुल्क के एक प्रमुख राष्ट्रीय कार्यक्रम/योजना में जनता के सांस्कृतिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास की चिन्ता शामिल है--हालांकि एक कतई भिन्न आधार पर (धार्मिक नहीं) मगर उत्साह वही है और लक्ष्य भी वही....मनुष्य को बेहतर, श्रेष्ठतर और अधिक सुखी बनाना। काम और श्रृंगारिकता का दर्शन आपकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परम्परा का काफी वड़ा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। यह सूक्ष्म भी है और महत्त्वपूर्ण भी। क्योंकि प्यार नहीं तो फिर नर-नारियों और अन्य सभी जीवित प्राणियों के हृदयों और आत्माओं को कौन सी चीज उदात्त वनाती है।

विनोद : यहां आकर क्या आपने किसी गोष्ठी या सेमिनार में कवि/पत्रकार की हैसियत से हिस्सा लिया।

मिरयाना : दुर्भाग्य से मैं ऐसे आयोजन में भाग नहीं ले पाई। मेरे पति आपके देश के बारे में एक वृत-चित्र बना रहे हैं....जिसके केन्द्र में श्रीमती इन्दिरा गांधी का गरिमापूर्ण व्यक्तित्व है। फिलहाल इस डाक्यूमेंटरी फिल्म का नाम रखा गया है : शाश्वत भारत। इस वृत्त-चित्र के सिलसिले में मेरे पति के नेतृत्व में यहां आई हुई टीम की एक सदस्य मैं भी हूं। शूटिंग में काफी वक्त खर्च हो जाता है। आपको याद होगा कि मेरे पति की फिल्म : "एक अज्ञात सैनिक के पेटेंटेड चमड़े के बूट" और हिन्दी फिल्मः "आक्रोश" ने 1981 के भारतीय फिल्मोत्सव में स्वर्णमयूर जीता है। इनकी अधिसंख्य फिल्मों की पटकथाएं प्रसिद्ध बल्गारी कवि वेलरी पेत्रोव ने लिखी हैं।

विनोद : कविता के जरिए संस्कृति की खोज के सन्दर्भ में अनुवाद की भूमिका के बारे में आप क्या सोचती हैं।

मिरयाना : अनुवाद के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। दो देशों के सम्बन्धों के विस्तार के सन्दर्भ में साहित्य (सिर्फ कविता ही नहीं बल्कि सभी कलाएं) सर्वश्रेष्ठ माध्यम सिद्ध हो सकता है। मुझे उम्मीद है कि जो फिल्म हम यहां बना रहे हैं वह हमें और आपको एक दूसरे को बेहतर ढंग से समझने और हमेशा के लिए दोस्त हो जाने का अवसर देगी।

विनोद : कविता की सांस्कृतिक यात्रा कभी खत्म नहीं होती। मुझे उम्मीद है कि हम फिर मिलेंगे अलविदा।

मिरयाना : अलविदा। धन्यवाद।

जिजीविषा की नदी और कविता का पुल

रोमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, तुर्की तथा काला सागर से घिरे समाजवादी देश बल्गारिया का क्षेत्रफल है 111000 वर्ग कि.मी. तथा आवादी 90 लाख। प्रोतो बल्गारियाई और स्लाव जातियों के लोगों तथा थ्रेशियाइयों के वंशजों ने सन् 681 में स्वयं को बल्गारियाई घोषित किया और परिणामतः संसार के मानचित्र पर उभरा एक नया राष्ट्र–'बल्गारिया'। स्लाव भाषाओं में बल्गारियाई भाषा सबसे पुरानी भाषा है। किरिल (815–885) और मेथॉडियस (827–869) नामक दो भाई स्लाव-वर्णमाला के जनक माने जाते हैं। बल्गारियाई साहित्य के आदिपुरुष कोन्स्तान्तिन किरिल की काव्यकृति : 'द प्रेयर हिम टु सेंट ग्रेगरी नाजियन्जेन' को बल्गारिया की पहली काव्यकृति माना जाता है। मठवासी, संन्यासी और ईसाई धर्म के अनुयायी किरिल द्वारा रचे गए भजनों से बल्गारियाई कविता की शुरुआत हुई। यह भक्तिकाव्य-परम्परा नौ शताब्दियों तक मठों तथा चर्चों में संन्यासियों तथा पादरियों द्वारा पोषित की जाती रही।

इस दौर की उल्लेखनीय मौलिक काव्यकृति है, कोन्स्तान्तिन प्रिस्लाव्स्की द्वारा रचित कृति : 'एल्फाबेटिकल प्रेयर'।

सन् 1762 में बल्गारिया में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का दौर शुरू हुआ। इस दौर में बल्गारियाई कविता ने अपने विकास के दूसरे चरण में प्रवेश किया। कविता में राष्ट्रवाद उभरने लगा। गेदादझिन्स्की दोवान्ली के भजनों में 'बल्गारियाई कविता का यह बदलाव' साफ-साफ देखा जा सकता है। धीरे-धीरे जनमानस में राष्ट्रीय चेतना और देश-प्रेम की भावना का अभ्युदय हुआ। दरअसल राष्ट्रीय पुनर्जागरण के दौर (1762–1878) में बल्गारियाई कवि और आम आदमी का एक ही लक्ष्य था–राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वाधीनता। नतीजा यह हुआ कि कवि, कविता में 'ईश्वर की स्तुति' करना बंद कर जनमानस में गीतों के माध्यम से देशभक्ति तथा वीररस का संचार करने लगा। इस दौर में कवि ने उपदेशक की भूमिका भी अदा की। स्वाभाविक ही था कि कवियों के मन में हिलोरें मारती देशभक्ति उनके सरोकारों को जनजीवन से जोड़ती। फलतः बल्गारियाई कवियों ने लोक-साहित्य में रुचि लेना आरम्भ किया। परिणामतः एक नयी काव्य शैली विकसित हुई। भावप्रवणता, स्वच्छन्दता और मौलिकता इस नयी काव्य शैली की विशेषताएं थीं।

नेयदेन गेरोव, दोब्री चिन्तुलोव, ग्योर्गी राकोव्स्की, पेतको स्लावेयकोव, ग्रिगोर पर्लिचेव, रायको झिन्झिफोव तथा ख्रिस्तो बोतेव इस दौर के महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। आधुनिक बल्गारियाई कविता के इतिहास में नेयदेन गेरोव (1823–1900) की कविता : 'स्तोयान इरादा' (1846) को कथ्य, रूप और बिम्बविधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। दोब्री चिन्तुलोव (1822–1886) को बल्गारियाई जुझारू गीतिकाव्य का प्रवर्तक माना जाता है। उनकी कविताओं–'राइज, राइज, यू बाल्कान हीरो', 'व्हेयर आर यू' तथा 'ट्रू लव ऑव द पीपुल' आदि–ने एक नयी काव्य-परम्परा को जन्म दिया। इसी दौर की अन्य कविताओं में राकोव्स्की (1821–1867) की चर्चित क्रान्तिधर्मी कविता : 'फॉरेस्ट ट्रैवलर' (1857) तथा स्लावेयकोव की विलक्षण कविता : 'द स्प्रिंग ऑव द व्हाइट लेग्गेड गर्ल' (1873), उल्लेखनीय हैं। ख्रिस्तो बोतेव की कविता इस नयी काव्य शैली की उपलब्धि थी।

राष्ट्र-प्रेम और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं से ओत-प्रोत बोतेव की कविता बल्गारियाई कविता की बहुमूल्य निधि है। उनकी भावप्रवण ओजस्वी कविता चट्टान तोड़कर फूट निकलने और निरंतर बहने वाले चश्मे के संस्कारों से युक्त है। चट्टान तोड़ने में समर्थ विस्फोटक ऊर्जा, उन्होंने आजादी की आकांक्षा अर्थात् देश-प्रेम तथा तुर्की शासकों के प्रति असीम, हिंस्र घृणा से प्राप्त की। सन् 1878 में बल्गारिया को पांच सौ वर्ष की तुर्की दासता से मुक्ति मिली और शुरू हुआ बल्गारिया के इतिहास में एक नया युग।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक और बीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशकों में बल्गारियाई कविता में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। वह दरअसल ध्रुवण की प्रक्रिया से गुजरी। देश-प्रेम के आनन्दातिरेक, आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद की जगह यथार्थवाद और व्यक्ति के बाहरी और भीतरी द्वन्द्वों ने ले ली। 'अतीत में दिलचस्पी' की जगह 'वर्तमान की चिन्ता' ने ले ली। कविता में समाजमूलक प्रतिवाद भी मुखर होने लगा। उन्हीं दिनों इस प्रगतिशील काव्यधारा के समानान्तर एक और काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी। इस धारा से सम्बद्ध कवि आधुनिकतावाद और व्यक्तिवाद की आड़ लेकर पलायनवाद की शरण में चले गए। इन कवियों की मान्यता थी कि कला अपना लक्ष्य स्वयं होती है। ये कवि प्रतीकवादी कवि कहलाए। अस्पष्टता, दुरूहता, अमूर्तता, रहस्यवादी प्रवृत्तियां, निराशावाद, प्रतीकवादी कविता की विशेषताएं थीं। फ्रांसीसी, जर्मन तथा रूसी प्रतीकवादी कवियों–मलार्मे, वेर्लेन, देहमेल, जॉर्ज, बल्मोन्त, ब्लोक, ब्रुसोव आदि–से प्रभावित बल्गारियाई प्रतीकवादी कवि अन्तर्दर्शन, स्वप्नों तथा काल्पनिक व वास्तविक अन्तर्द्वन्द्वों की दुनिया में खो गए। इस सबके बावजूद, मौलिकता, नये काव्य-उपकरणों और काव्यभाषा के नये क्षितिजों की सतत एवं सजग तलाश तथा काव्य-रूपों के विकास के संवर्द्धन के संदर्भ में प्रतीकवाद की उपलब्धियों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। कालान्तर में अनेक मूर्धन्य प्रतीकवादी कवियों

ने 'प्रतीकवाद' को अलविदा कहा और प्रगतिशील कवियों में शामिल हो गए। प्रतीकवाद की दुनिया से प्रगतिशील दुनिया में आकर समादृत होने वाले कवियों में दिमचो देबेल्यानोव तथा गिओ मिलेव उल्लेखनीय हैं। महान बल्गारियाई कवि इवान वाजोव (1850—1921) इन दोनों काव्यधाराओं से अप्रभावित रहे और जिस काव्य-परम्परा की उन्होंने स्वयं नींव रखी थी, उसी से जुड़े रहकर कविताएं लिखते रहे। वाजोव युग-प्रवर्तक रचनाकार थे। बल्गारियाई सैनिकों, बल्गारिया के प्राकृतिक सौन्दर्य तथा देश-प्रेम को केन्द्र में रख उन्होंने अनेक अप्रतिम कविताएं लिखीं। सच तो यह है कि वे बल्गारियाई रचनाधर्मिता तथा रचनात्मक ऊर्जा के प्रतीक माने जाते हैं। इस दौर के अन्य महत्त्वपूर्ण कवि हैं—किरिल ख्रिस्तोव (1875—1944) और गिओ मिलेव (1895—1925)। किरिल की कविता 'चिल्ड्रन ऑव द बाल्कान्स' तथा गिओ मिलेव की कविता 'सेप्टेम्बर' इस दौर की कविता की उपलब्धियां मानी जाती हैं। 'सेप्टेम्बर' जैसी क्रांतिकारी कविता लिखने की कीमत गिओ मिलेव को प्राण देकर चुकानी पड़ी। 15 मई 1925 को फासिस्टों ने उनकी हत्या कर दी।

सन् 1912 और 1944 के बीच के अन्तराल में बल्गारिया ने तीन लड़ाइयां लड़ीं—1913, 1915 और 1941 में । इसी कालखंड में बल्गारिया में तीन विप्लव भी हुए। पहले विप्लव का संचालन दक्षिणपंथियों ने सन् 1923 में जून में किया। तीन मास बाद दूसरे विप्लव का संचालन कम्युनिस्टों ने किया। तीसरे विप्लव का संचालन भी कम्युनिस्टों ने ही 1944 में किया और 9 सितम्बर को सत्ता की बागडोर संभाली।

युद्ध की विभीषिका और राजनीतिक उथल-पुथल के इस दौर में हुए ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों ने बल्गारियाई कविता को बेहद प्रभावित किया। यों युद्ध के दुष्प्रभावों, राजनीतिक अस्थिरता तथा असुरक्षा की भावना से ग्रस्त हिंसा, दमन व मानवीय अधिकारों के हनन के इस दौर में भी कविता अबाध गति से बहती रही। युद्ध की कड़वी स्मृतियों, मनुष्य की तकलीफ और यातना, विजय के उन्माद तथा पराजय की हताशा में कवियों को काव्य-रचना के लिए काफी कच्चा माल मिला। कविता के शिल्प के क्षेत्र में अनेक नये प्रयोग किए गए। कुछ कवियों ने शब्द पर इतना बल दिया कि उनकी कविता में शब्दाडम्बर ने मनुष्य की तकलीफ को व्यक्त करने की बेचैनी को ढक दिया। इस काल में रूसी कवियों—खासकर मायकोव्स्की ने बल्गारियाई कवियों को प्रभावित किया। जिन कवियों ने इस काल में एक समृद्ध काव्य-परम्परा को विकसित किया और आनेवाली पीढ़ियों के लिए कविता की बहुमूल्य धरोहर छोड़ी, उनमें गिओ मिलेव, ख्रिस्तो स्मिर्नेन्स्की, निकोला वप्त्सारोव, ख्रिस्तो रादेव्स्की, अतानास दालचेव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अद्वितीय क्रांतिकारी कवि निकोला वप्त्सारोव सर्वाधिक लोकप्रिय, बल्गारियाई

कवि हैं। उन्होंने कविता में अपने राष्ट्र के मर्म को उद्घाटित किया। मशीनों की कर्णकटु आवाजों में भी कविताओं की पदचापें सुन पाने में समर्थ संवेदनशील कवि वप्त्सारोव की कविताएं, फाशीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के इरादों, भविष्य में आस्था तथा मेहनतकशों की एकता की घोषणाएं हैं। प्रथम महायुद्ध से समाजवादी बल्गारिया के जन्म के बीच का दौर (1918–1944) बल्गारियाइयों के लिए अतियथार्थवादी दुःस्वप्नों का दौर सिद्ध हुआ। मानवाधिकारों के हनन के इस दौर में कविता के माध्यम से जनमानस में आस्था और आशा का संचार कर ('स्प्रिंग') तथा मामूली आदमी की छवि संवारकर ('हिस्ट्री' और 'रिपोर्ट') तथा मनुष्य की गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित कर वप्त्सारोव ने अभूतपूर्व ख्याति अर्जित की। उनकी कविता मनोवैज्ञानिक-यथार्थवादी कविता है। क्रांतिकारी कविता में मनोवैज्ञानिक प्रगीत-तत्त्व का विकास कर उन्होंने बोतेव तथा यावारोव की काव्य-परम्परा को आगे बढ़ाया। 1942 में 23 जुलाई को फासिस्टों ने उन्हें गोली से उड़ा दिया।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, अलेक्सान्द्र गेरोव, बोझिदार बोझिलोव, इवान पेइचेव, ब्लागा दिमित्रोवा, ग्योर्गी जगारोव, ल्यूबोमीर लेवचेव, पर्वान स्तेफानोव, लिल्याना स्तेफानोवा आदि आधुनिक कवियों ने अनेक अप्रतिम कविताएं लिखकर बल्गारियाई कविता को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यद्यपि कविता के विकास के सन्दर्भ में, यह दौर अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो चुका है और इस दौर में रची गई कुछ काव्य-कृतियां भविष्य में कालजयी कृतियों का दर्जा हासिल कर लेगी किंतु फिर भी बीसवीं शताब्दी की बल्गारियाई कविता के निर्णायक मूल्यांकन के लिए अभी और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, क्योंकि यह शताब्दी अभी समाप्त ही हुई है।

यद्यपि बीसवीं शताब्दी की बल्गारियाई कविता, बल्गारियाई इतिहास से प्रभावित और प्रेरित है और पांच सौ वर्ष लम्बी स्वाधीनता की लड़ाई तथा इस सदी के पूर्वार्द्ध के फासिस्ट-विरोधी संघर्ष की प्रतिध्वनियां उसमें बीथोविन की सिम्फनी की तालों की तरह साफ-साफ सुनाई देती हैं, फिर भी उस पर इन्कलाबी नारेबाजी या क्रांतिधर्मिता के उन्मेष की एकरसता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। विविधता बीसवीं शताब्दी की बल्गारियाई कविता की विशिष्टता है। अनुभव-सम्पन्न तथा कल्पनाशील समकालीन बल्गारियाई कवियों ने विरासत में मिले देश-प्रेम, शौर्य, साहस, जिजीविषा, युद्ध, दमन तथा शोषण का विरोध, प्रकृति-प्रेम, आत्मोत्सर्ग, श्रम तथा मनुष्य की गरिमा की प्रतिष्ठा तथा प्रणय के इन्द्रधनुषी सम्मोहन आदि बल्गारियाई कविता के मूलभावों का काव्यात्मक इस्तेमाल तो किया ही है, शोर तथा मशीनीकरण के दुष्प्रभावों, मनुष्य के अस्तित्व तथा मनुष्य और मनुष्य जाति की नियति, स्त्रियों तथा बच्चों की अरक्षितता के प्रति चिंता आदि आधुनिक कवि के सरोकारों को कविता में व्यक्त कर बल्गारियाई कविता को अन्तर्राष्ट्रीय कविता की मुख्य धारा से भी जोड़ा है। कम्प्यूटर से संचालित मशीनों से आतंकित आज का आदमी एक ऐसे शून्य में जी रहा है जिसमें न आत्मीयता की ईथर है और

न ही प्रेम-रूपी प्राणवायु। इस शून्य को भरने का प्रयास करती है आधुनिक वल्गारियाई कविता। यही वजह है कि विज्ञान और टेक्नॉलोजी की उपलब्धियों से चकित, युद्धों-महायुद्धों के समृतिदंशों से पीड़ित, तीसरे महायुद्ध की शंका से त्रस्त, भूकम्पों, बाढ़, भुखमरी, शोषण, दमन तथा आतंकवाद से संतप्त और जनसंख्या-विस्फोट से स्तब्ध समकालीन दुनिया में जीने की कोशिश करते, अस्तित्व के संकट से ग्रस्त आदमी को वीसवीं शताब्दी की वल्गारियाई कविता आश्वस्त करती है। वल्गारियाई कविता कभी भी बौद्धिकता से आक्रांत नहीं रही। वल्गारियाई मनस्समुद्र में उठतीं स्वतःस्फूर्त लहरों की मानिंद, वल्गारियाई कविताएं पाठक के मन की किश्ती को, मनुष्य के अनुभवलोक के अनेक ज्ञात-अज्ञात सागरतटों तक ले जाती हैं।

वीसवीं शताब्दी की वल्गारियाई कविताओं से साक्षात्कार का अर्थ है एक ऐसे पुल पर से होकर गुजरना, जो बल्गारिया के वर्तमान का प्रतीक है। यह पुल जिसे लांघता है वह बल्गारिया की जिजीविषा की नदी है और जिन्हें जोड़ता है वे दो किनारे हैं—दुखद अतीत और सुखद भविष्य।

पुरस्कार और पूर्वग्रह

साहित्य में मौलिक लेखन के लिए दिए जाने वाले सर्वाधिक प्रतिष्ठित और गरिमामंडित अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार–'नोबेल पुरस्कार', की घोषण नोबेल फाउण्डेशन ने 1895 में की थी किन्तु पहली बार दिया गया 1901 में। यह पुरस्कार, नोबेल पुरस्कार के संस्थापक, डाइनामाइट के आविष्कारक, स्वीडन के केमिकल इंजीनियर व उद्योगपति **एल्फ्रेड बर्नहार्ड नोबेल** की पुण्य तिथि 10 दिसम्बर को दिया जाता है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री नोबेल का जन्म 21 अक्तूबर 1833 को स्टॉकहोम में हुआ था। स्टॉकहोम और पीटर्सबर्ग में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने पेरिस तथा अमरीका में रसायन विज्ञान का अध्ययन किया। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी, स्वीडी आदि भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार था। साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। यौवन के दिनों में उन्होंने अंग्रेजी में कविताएँ भी लिखीं। स्वप्नदर्शी नोबेल, स्वभाव से एकान्तप्रिय, मानव प्रेमी तथा शांतिप्रिय थे। उन्हें भय था, उनके आविष्कार, शक्तिशाली विस्फोटक डाइनामाइट का भविष्य में दुरुपयोग किया जाएगा। धीरे-धीरे वे उदास रहने लगे और निराशावादी हो गए। वे आजीवन अविवाहित रहे। अपनी अधिकांश धन-सम्पदा से उन्होंने नोबेल न्यास की स्थापना कर, नोबेल पुरस्कार की अपनी परिकल्पना को साकार किया।

साहित्य के पहले नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थात् प्रथम नोबेल-रत्न होने का गौरव फ्रांस के कवि सुइली प्रूइदोम को प्राप्त हुआ। उनका जन्म 16 मार्च, 1839 को तथा देहान्त 7 सितम्बर 1907 को हुआ। उनका असली नाम था रेनेफ्रान्को अरमां प्रूइदोम। फ्रांसीसी कविता के पारनासियन स्कूल से सम्बद्ध श्री प्रूइदोम की विज्ञान और दर्शन में गहरी पैठ थी। इन विषयों में अर्जित ज्ञान को कविता में रूपांतरित करने के लिए वे निरंतर प्रयत्नशील रहे। पुरातत्व की उपलब्धियों, जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर के दर्शन तथा बौद्धधर्म से प्रभावित, पारनासियन काव्यान्दोलन से सम्बद्ध कवियों ने कला के अतिवादी आग्रहों के विरुद्ध आवाज उठाकर स्वच्छन्दतावाद का विरोध किया गया था। 1881 में प्रूइदोम को फ्रांसीसी अकादमी का सदस्य निर्वाचित किया गया।

नियमानुसार, पुरस्कार पाँच साल में एक बार अवश्य दिया जाना चाहिए तथा एक पुरस्कार, अधिक से अधिक तीन लेखकों को संयुक्त रूप से दिया जा सकता

है। यदि यह पुरस्कार हर वर्ष दिया जाता तो अब तक (1901-2000) नोवेल पुरस्कार विजेताओं की सूची में कम से कम सौ नाम दर्ज हो चुके होते। पुरस्कार के सौ वर्षों के इतिहास में 1914, 1918, 1935 और 1940 से 1943 तक, इन सात वर्षों को छोड़कर, पुरस्कार हर वर्ष नियमित रूप से दिया जाता रहा है (सूची देखें)। स्वीडी कवि और नोबेल पुरस्कार समिति के वरिष्ठ सदस्य श्री एरिक एक्सेल काल्फेल्ड्ट ने 1918 में पुरस्कार नहीं स्वीकारा तो नियमों को ताक पर रखकर उन्हें सन् 1931 में मरणोपरान्त पुरस्कार दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के कारण तीन साल (1940 से 1942 तक) स्वीडिश अकादमी निष्क्रिय रही किन्तु साहित्य का नोबेल पुरस्कार 1943 में भी नहीं दिया गया। चार पुरस्कार संयुक्त रूप से दिए गए। 1940 में पहली बार स्पेनी नाटककार होसे एकेगरया और प्रोवोन्स निवासी कवि फ्रेडरिक मिस्राल संयुक्त विजेता घोषित किए गए। 1917 में डेनमार्क के रचनाकार हेनरिक पोंटोपिदान और कार्ल एडोल्फ ग्जेल्लेरूप, 1966 में हिब्रू उपन्यासकार सैमुअल योसेफ एग्नॉन तथा जर्मन/स्वीडी कवयित्री नेल्ली साक्स और 1974 में स्वीडी रचनाकार यविन्ड जान्सन तथा हैरी मार्टिन्सन संयुक्त विजेता घोषित किए गए।

रवीन्द्रनाथ टैगोर को 1913 में प्रथम भारतीय और एशियाई नोबेल रत्न होने का गौरव प्राप्त हुआ। पुरस्कृत कृति : 'गीताजंलि' के भूमिका लेखक, आयरलैंड के सुविख्यात अंग्रेजी कवि विलियम बटलर यीट्स को नोबेल पुरस्कार दस वर्ष बाद मिला, शायद इसीलिए उन्होंने टैगोर को बधाई तक नहीं दी। 1966, 1968, 1994, 2000 में भी एशियाई सृजनात्मकता सम्मानित हुई। क्रमशः माध्यम बने, इस्रायली उपन्यासकार सैमुअल योसेफ एग्नॉन, दो जापानी उपन्यासकार; यासूनारी कावाबाता और ओए केनज़ाबुरो और चीनी उपन्यासकार, नाटककार काओ सिन च्येन। आस्ट्रेलिया के खाते में सिर्फ एक पुरस्कार ही कथाकार-नाटककार पैट्रिक ह्वाइट के नाम दर्ज है। ह्वाइट को 1973 में पुरस्कृत किया गया। 1986 में नाइजीरियाई कवि-नाटककार वोले शेयिन्का को प्रथम अफ्रीकी नोबेल पुरस्कार विजेता होने का गौरव प्राप्त हुआ। कालान्तर में दो और अफ्रीकियों को स्वीडिश अकादमी ने सम्मानित किया—मिस्री कथाकार नज़ीब महफूज को 1988 में और दक्षिण अफ्रीकी कथा-लेखिका नैदीन गार्दिमर को 1991 में। पाँच लातिनी अमरीकियों सहित स्वीडी अकादमी द्वारा अब तक 14 अमरीकी रचनाकार पुरस्कृत किए जा चुके हैं।

अमरीका में जन्मे इलियट, वहाँ बसे रूसी कवि जोसेफ ब्रॉडस्की, पोलैंड के कवि चैसवैफ मीवॉश और यिद्दिश कथाकार इज़ाक बाशेविस सिंगर इनमें शामिल नहीं। 1938 में सिन्क्लेयर लीविस तथा 1945 में चिली की कवयित्री गब्रिएला मिस्राल ने क्रमशः अमरीका और लातिनी अमरीका के लिए पहला पुरस्कार जीता। उपन्यासकार सिन्क्लेयर लीविस का जन्म 7 फरवरी 1885 को तथा देहावसान 10 जनवरी 1951 में हुआ। उनके प्रेरणा स्रोत चार्ल्स डिकेन्स और एच.जी. वेल्स की कृतियों में ढूँढे जा सकते हैं। सृजनात्मक लेखन की तुलना में वे पत्रकारिता में

अधिक दक्ष थे। अमरीकी समाज को उन्होंने करीब से देखा था। उसी को उन्होंने अपनी कृतियों में चित्रित भी किया किन्तु कमजोर चरित्र-चित्रण और बौद्धिक शैथिल्य के कारण वे अमरीकी कथा-साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाए। उनकी गणना लोकप्रिय उपन्यास के बल पर साहित्यिक ख्याति अर्जित करने वाले सबसे खराब अमरीकी लेखकों और सबसे खराब नोबेल पुरस्कार विजेताओं में की जाती है। गब्रिएला मिस्त्राल नोबेल पुरस्कार जीतने वाली पहली कवयित्री थीं। उनके केवल चार कविता संग्रह प्रकाशित हुए–'एकाकीपन', 'सुकुमारता', 'पेड़ों की कटाई' और 'कोल्हू'। बच्चा, प्रणय और अतृप्त मातृत्व को केन्द्र में रखकर उन्होंने अप्रतिम कविताएँ लिखीं। वे कभी अपनी कविताओं से सन्तुष्ट नहीं हो पाईं, इसलिए वे गाहे-बगाहे इनमें संशोधन करती रहती थीं और यही वजह है कि उनकी कविताएं कई प्रारूपों में उपलब्ध हैं। उन्हें कृत्रिमता, जटिलता व बौद्धिकता से आक्रांत सोफिस्टिकेटेड बीसवीं शताब्दी में अति-विशिष्ट सहज, 'नेव' कविता रचने वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में गिना जाता है। नोबेल पुरस्कार अर्पण समारोह में शामिल होने के लिए जब वे स्वीडन गईं तो सेल्मा लैगरलॉफ के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना वे नहीं भूलीं। वहाँ अपने एक माह के प्रवास के दौरान मारबका जाकर उन्होंने वह पुराना मकान देखा जिसमें लैगरलॉफ रहा करती थीं और उनकी कब्र पर उन्होंने फूल चढ़ाए।

33 देशों की लगभग 25 भाषाओं में बँटे कुल 93 पुरस्कारों तथा 97 नोबेल-रत्नों की सूची में यूरोप का वर्चस्व रहा है। उसे 70 पुरस्कार मिले और अन्य चार महाद्वीपों को सिर्फ 23 (तेईस)। प्रथम तीन दशकों में केवल दो गैर-यूरोपीय रचनाकार ही यूरोप को चुनौती दे पाए–1913 में रवीन्द्रनाथ टैगोर और 1930 में सिन्क्लेयर लीविस। यहाँ यूरोप का अर्थ पश्चिमी यूरोप से लिया जाना चाहिए क्योंकि नोबेल पुरस्कारों की सूची में अब तक केवल 12 पूर्वी यूरोपीय नाम ही दर्ज हो पाए हैं और लातिनी अमरीकी लेखकों की स्पेनी भाषा तथा अमरीकी लेखकों की अंग्रेजी भाषा, दोनों पश्चिमी यूरोप की भाषाएँ हैं। यही नहीं वोले शोयिन्का, नैदीनगार्दिमर, डेरेक वॉल्कॉट और 1993 की नोबेल पुरस्कार विजेता अश्वेत अमरीकी टॉनी मैरिसन ने भी अभिव्यक्ति के लिए पश्चिमी यूरोपीय भाषा अंग्रेजी को ही चुना।

अब तक पुरस्कृत 12 पूर्वी यूरोपीय लेखकों में पाँच रूसी हैं, एक युगोस्लाव, एक चेक और पाँच पोल। उपन्यासकार हेनरिक सेनकेविच (1846–1916) को 1905 में प्रथम पोल और पूर्वी यूरोपीय नोबेल-रत्न होने का गौरव प्राप्त हुआ। प्रथम रूसी नोबेल-रत्न थे इवान बुनिन अलेक्सेयेविच। उन्हें 1933 में पुरस्कृत किया गया। उनका जन्म 1870 में हुआ और देहान्त 1953 में। वे एक अच्छे कवि थे किन्तु ख्याति उन्हें कथाकार के रूप में मिली। उनके उल्लेखनीय कथा-संग्रह हैं–'चांग के स्वप्न', 'सान फ्रांसिस्को का भलामानुष' और 'अंधेरी गलियां'।

राष्ट्रों में फ्रांस अग्रणी रहा है। 1963 में पुरस्कार ठुकराने वाले कथाकार नाटककार दार्शनिक ज्याँ पॉल सार्त्र और प्रोवोन्सल भाषी कवि फ्रेडरिक मिस्राल (1830–1914) सहित गत सौ वर्षों में फ्रांस के 12 लेखक नोवेल पुरस्कार जीत कर गौरवान्वित हो चुके हैं। इनमें दो विश्वविख्यात फ्रांसीसी भाषी नाटककार, आयरलैंड के सैमुअल बेकेट तथा बेल्जियम के मौरिस मैतरलिंक जिन्हें क्रमशः 1969 और 1911 में नोबेल पुरस्कार मिला, तथा सन् 2000 के विजेता काओ सिन च्येन, जो फ्रांस में रहते हैं, शामिल नहीं हैं। ब्रिटेन और अमरीका दूसरे नम्बर पर आते हैं। अब तक उनके आठ-आठ रचनाकार पुरस्कृत किए जा चुके हैं। पहला ब्रितानी नोबेल-रत्न होने का गौरव बम्वई में जन्मे कवि कथाकार रुडयार्ड किपलिंग को प्राप्त हुआ। 1907 में उन्होंने सवसे कम उम्र 42 वर्ष में, नोबेल पुरस्कार जीता। यों तो नोवेल पुरस्कार सृजनात्मक साहित्य के लिए ही दिया जाता है किन्तु 1902 में पहली वार ऐतिहासिक लेखन पुरस्कृत हुआ और 1908 में दार्शनिक। दोनों बार पुरस्कार विजेता जर्मन थे—मॉमसन मैथियस थियोडोर (1817–1903) और यूकेन रूडोल्फ क्रिस्तोफ़ (1846–1926)। 1927 में प्रख्यात फ्रांसीसी दार्शनिक हेनरी बर्गसन (1859–1941) और 1950 में विश्वविख्यात ब्रितानी दार्शनिक बर्ट्रन्ड रसेल (1872–1970) का दर्शन भी समादृत हुआ। 1953 में सर विंस्टन चर्चिल की वक्तृता और लेखन प्रतिभा को भी स्वीडिश अकादमी ने सम्मानित किया।

अब तक कुल नौ लेखिकाओं के नाम ही नोवेल सूची में जुड़ पाए हैं। सबसे पहले स्वीडी उपन्यास लेखिका सेल्मा लैगरलॉफ ने 1909 में नोबेल पुरस्कार जीता। बाद में स्वीडी अकादमी ने इतालवी उपन्यासकार ग्रेजिया देलेद्दा को 1926 में, नार्वे वासिनी उपन्यास लेखिका सिगरिद अंडसेट को 1928 में, अमेरिकी कथाकार पर्लबक को 1938 में, चिली की कवयित्री गब्रिएला मिस्त्राल को 1945 में, जर्मन-स्वीडी लेखिका नेल्ली साक्स को 1966 में, दक्षिण अफ्रीकी लेखिका नैदीन गार्दिमर को 1991 में, अमेरिका की अश्वेत लेखिका टॉनी मौरिसन को 1993 में तथा पोलैंड की कवयित्री विस्वावा सिम्बोर्स्का को 1996 में पुरस्कृत किया। सेल्मा लैगरलॉफ का जन्म 1858 में और देहावसान 1940 में हुआ था। उन्होंने अपनी कृतियों के लिए 'कच्चा माल' लोक जीवन से ग्रहण किया। स्वीडी साहित्य में उनके प्रथम उपन्यास 'गॉस्टा बर्लिंग की कहानी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1915 का पुरस्कार महात्मा गांधी की जीवनी के प्रख्यात फ्रांसीसी लेखक रोमां रोला के लिए आरक्षित किया गया और 1916 में प्रदान किया गया। टैगोर को लिखे उनके पत्र भी चर्चित हुए। 1956 के नोबेल पुरस्कार विजेता स्पेनी कवि हुआन रमोन हिमेनेस पर रवीन्द्रनाथ का गहरा प्रभाव था। उनकी पत्नी ने टैगोर की अनेक, लगभग सभी कविताएँ स्पेनी भाषा में अनूदित की थीं।

अक्सर पुरस्कृत रचनाकार की पात्रता और पुरस्कृत कृति के चयन के औचित्य पर उंगलियाँ उठाई जाती रही हैं। नोबेल पुरस्कार की गरिमा तथा नोबेल

पुरस्कार समिति के सदस्यों के पूर्वाग्रहों व दुराग्रहों पर भी अक्सर चर्चा की जाती रही है। टॉलस्टॉय, गोर्की, वेलरी, काफ्का, रिल्के, जोला, स्टाइन्डबर्ग, ब्रेख़्त या सेसर वायखो को पुरस्कृत नहीं किया गया? पाब्लो नेरूदा व गुंटर ग्रास को पुरस्कार विलम्ब से क्यों दिया गया? वी. एस. नायपाल को क्यों नहीं पुरस्कृत किया जा रहा? सम्भवतः कोई नहीं। दुर्भाग्य से नोबेल पुरस्कार समिति ने अपने इर्द-गिर्द अदृश्य और अलंघ्य दीवारें चिन ली हैं। इतिहास साक्षी है कि अक्सर डिसिडेन्ट अथवा निर्वासित पूर्वी-यूरोपीय साहित्यकारों को ही नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया--इवान बुनिन अलेक्सेयेविच (1933), जोसेफ ब्रॉडस्की (1987), चेसवैफ़ मीवॉश (1980)। 1980 में जब पोलैंड के कवि मीवॉश को पुरस्कार देने की घोषणा की गई थी तो कई साहित्यकारों के मन में दो महान अ-पुरस्कृत जीवित पोल कवियों, तादूयूश रूज़ेविच और ज्बिग्नीयेव हेर्बेर्त के नाम कौंधे थे और जब सात साल बाद जोसेफ ब्रॉडस्की को नोबेल पुरस्कार दिया गया तो उन्हीं साहित्यकारों की जुबान पर यव्गेनी यव्तुशेंको और आन्द्रेई वॉज़्नेसेन्स्की जैसे प्रख्यात जीवित रूसी कवियों के नाम आए। उल्लेखनीय है कि पास्तरनाक बरसों तक श्रेष्ठ कविताएँ लिखते रहे और उन्होंने शेक्सपीयर की कुछ कृतियों का रूसी भाषा में अनुवाद भी किया किन्तु पुरस्कार उन्हें सिर्फ इसलिए दिया गया क्योंकि डॉ. जिवागो में रूसी व्यवस्था की आलोचना की गई थी। तो क्या डिसिडेन्ट पूर्वी यूरोपीय रचनाकारों को ही पुरस्कृत करके नोबेल पुरस्कार समिति यह कहना चाहती है कि पश्चिम की खुली हवा में सृजनशीलता विकसित होती है और पूर्वी यूरोप के दमघोंटू माहौल में अवरुद्ध? बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में पूर्वी यूरोप में आए परिवर्तनों को देखते हुए आशा की जानी चाहिए कि स्वीडिश अकादमी के उक्त संकीर्ण दृष्टिकोण में भी अपेक्षित बदलाव आएगा।

1964 में पुरस्कार ठुकराते हुए सार्त्र ने उक्त पूर्वाग्रह अथवा 'पोलिटिकल बायस' की ओर संकेत किया था। यह भी विडम्बना ही है कि पुरस्कार ठुकराकर सार्त्र ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की उतनी प्रतिष्ठा अब नोबेल पुरस्कार से सम्मानित होकर भी लेखक को नहीं मिलती। आज हमें कितने नोबेल पुरस्कार विजेताओं के नाम याद हैं, मगर सार्त्र क्या कभी भुलाए जा सकते हैं? यह आकस्मिक नहीं था कि सार्त्र के प्रहार से तिलमिला कर अगले ही वर्ष नोबेल पुरस्कार समिति ने रूसी उपन्यासकार मिखाइल शेलोखोव को चुन कर अपनी झेंप मिटाने की कोशिश की। चर्चिल को पुरस्कृत किया जाना भी पोलिटिकल बायस को ही प्रमाणित करता है क्योंकि वे न तो महान लेखक थे और न ही महान पत्रकार, और इतिहास के व्याख्याकार के रूप में भी वे कोई अद्वितीय काम नहीं कर पाए। नोबेल पुरस्कार समिति को कभी-कभी साहित्य की दुनिया में महारथियों की उपेक्षा कर, अपेक्षाकृत कम चर्चित या लगभग अज्ञात लेखकों को उपकृत करने में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। 1979 में जब यूनानी कवि ओदीसियस एलाइतिस को नोबेल

पुरस्कार देने की घोषणा की गई तो नार्वे निवासी प्रोफोसर जॉन ड्रिचसन ने कहा कि अनेक विश्वविख्यात साहित्यकारों को वंचित करके यह पुरस्कार अल्पज्ञात लेखकों को दिया जा रहा है। एलाइतिस का तो नाम भी उन्होंने कभी नहीं सुना। यह ठीक है कि चर्चित होना किसी पुरस्कार को जीतने की शर्त नहीं हो सकती किन्तु मीवॉश को हेर्बेर्त और रूज़ेविच; ब्रॉडस्की को यव्तुशेन्को और वॉज्नेसेन्सकी; तथा एलियास केनेती और गोल्डिंग को ग्राहम ग्रीन तथा गब्रिएल गार्सिया मार्केज को बोर्ख़ेस पर तरजीह देने के औचित्य को सिद्ध करना कठिन ही नहीं, लगभग असंभव भी है। 1984 में जब चेक कवि यारोस्लाव साइफर्त को नोबेल पुरस्कार दिया गया तो उन्होने कहा—'मुझे इसकी उम्मीद न थी। मुझे उन चेक कवियों की याद आ रही है जिन्हें नोबेल पुरस्कार नहीं मिला किन्तु जिनकी पात्रता संदेह के दायरे में नहीं आती—वितेज़ूलाव नेजवल, योसेफ होरा, ब्लादीमीर होलान इत्यादि।'

1988 में मिस्री उपन्यासकार नज़ीब महफूज को नोबेल पुरस्कार दिए जाने पर सीरियाई सरकारी अखबार 'अल थावूरा' ने तीखी टिप्पणी करते हुए कहा 'नोबेल पुरस्कार की साख गिर गई है क्योंकि महफूज और ब्रॉडस्की को नोबेल पुरस्कार से राजनीतिक कारणों से सम्मानित किया गया है और नोबेल पुरस्कार को पश्चिम राजनीतिक चारे के रूप में इस्तेमाल कर रहा है। पुरस्कार उन्हें कैंपडेविड शांति समझौते का समर्थन करने के लिए दिया गया है। इसी समझौते पर 1979 में हस्ताक्षर करने के लिए मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और इस्रायल के प्रधानमंत्री बेगिन को नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया था। यह बात दीगर है कि महान रूसी कवयित्री अन्ना अख्मातोवा, ब्रॉडस्की को उनकी पीढ़ी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानती थीं तथा महफूज को मिस्री अर्बन उपन्यास का जनक माना जाता है।

1945 का नोबेल पुरस्कार प्रख्यात फ्रांसीसी कवि पॉल वेलरी (1871—1945) को दिया जाना लगभग तय हो चुका था। टी. एस. इलियट, वेलरी को बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का प्रतिनिधि कवि मानते थे और उनके नाम को 1920 से 1945 तक दर्जनों बार फ्रांस तथा अनेक देशों ने प्रस्तावित किया था। दुर्भाग्य से चयन प्रक्रिया के अंतिम चरण के समापन से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। अंततः पुरस्कार गब्रिएला मिस्त्राल को दे दिया गया।

वर्ष 1998 का नोबेल पुरस्कार पुर्तगाल के प्रख्यात उपन्यासकार जुसे सरामागो को प्रदान किया गया। पचहत्तर वर्षीय समारागो नोबेल रत्न होने का गौरव प्राप्त करने वाले पहले पुर्तगाली रचनाकार हैं। उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में एक्वीलीनो रिबेरो और मिगुएल टोर्गा को यह गौरव प्राप्त हो सकता था लेकिन पुरस्कारों की राजनीति और राजनीतिक हस्तक्षेप के चलते यह संभव नहीं हो सका।

सन् 2000 के नोबेल पुरस्कार विजेता, अल्पज्ञात, निर्वासित, डिसिडेन्ट चीनी उपन्यासकार और नाटककार काओ सिन च्येन का जन्म चीन में, सन् 1940 में हुआ था। श्री च्येन, नोबेल रत्न होने का गौरव प्राप्त करने वाले पहले चीनी

रचनाकार है। चीन पर जापानी आक्रमण के बाद के दौर में वह पले और बड़े हुए। उन्होंने फ्रांसीसी भाया का अध्ययन किया परन्तु 'चीनी कल्चरल रेवोलूशन' (1966-1976) के दौरान उन्हें 'रीएजुकेशन कैम्प' में भेज दिया गया और उनकी पांडुलिपियों का सूटकेस जला दिया गया। 1979 तक उन्हें प्रकाशन और यात्रा की अनुमति नहीं दी गई। उनके अनेक प्रयोगवादी नाटकों को बेइजिंग में लोकप्रियता तो मिली, मगर कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने उनकी भर्त्सना की। 1986 में उनका नाटक—दूसरा किनारा—वैन कर दिया गया। इसके बाद चीन में उनका कोई भी नाटक मंचित नहीं हुआ। 1989 में 'टिनामेन स्क्वेयर' में हुए नरसंहार के बाद उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी का साथ भी छोड़ दिया। 1987 में उन्होंने चीन से विदा ली और पेरिस में राजनीतिक शरण ले ली। कालान्तर में उन्हें फ्रांस की नागरिकता मिल गई। 'सोल माउण्टेन', लेखक, अनुवादक, रंग निर्देशक, पेन्टर काओ सिन च्येन की सर्वाधिक चर्चित कृति है। स्वीडिश अकादमी ने प्रशस्ति में कहा कि सार्वभौम मान्यता, तीक्ष्ण अंर्तदृष्टि और भाषाई विदग्धता से युक्त उनकी कृतियों ने चीनी उपन्यास और नाटक के लिए नई राहें खोली हैं।

साहित्य के नोबेल-रत्नों की तालिका (1901-2000)

वर्ष	साहित्यकार का नाम और देश
1901	सूइलीप्रूद्दोम (फ्रांस)
1902	मॉमसन क्रिस्टिन गैथियस थियोडोर (जर्मनी)
1903	जॉन्सन जॉन्स्टर्न मार्टिनस (नार्वे)
1904	होसे एकेगरया (स्पेन)
	फ्रेडरिक मिस्त्राल (फ्रांस)
1905	हेनरिक सेनकेविच (पोलैंड)
1906	गियोसू कार्दुच्ची (इटली)
1907	रूडयार्ड किपलिंग (इंगलैंड)
1908	यूकेन रूडोल्फ क्रिस्तोफ (जर्मनी)
1909	सेल्मा लैगरलॉफ (स्वीडन)
1910	पॉल हिजे (जर्मनी)
1911	मौरिस मैतरलिंक (बेल्जियम)
1912	गेर्हार्ड जोहान हाफ्थमन (जर्मनी)
1913	रवीन्द्रनाथ टैगोर (भारत)
1915	रोमां रोलां (फ्रांस)
1916	कार्ल गुस्ताफ वर्नर हीडेनस्ताम (स्वीडन)
1917	हेनरिक पोटोंपिदान (डेनमार्क)
	कार्ल एडोल्फ ग्जेल्लेरूप (डेनमार्क)
1919	कार्ल फ्रेडरिक जॉर्ज स्पिटलर (स्विट्जरलैंड)
1920	क्नुट पेडरसन हैमसुन (नार्वे)
1921	अनातोले फ्रांस (फ्रांस)
1922	हेकिन्तो वेनेवेन्ते (स्पेन)
1923	विलियम वटलर यीट्स (आयरलैंड)
1924	वैदिस्वैफ स्तानिस्वैफ रेयमंट (पोलैंड)
1925	जॉर्ज बर्नर्ड शॉ (इंगलैंड)
1926	ग्रेजिया देलेद्दा (इटली)
1927	हेनरी बर्गसन (फ्रांस)
1928	सिग्रिद अंडसेट (नार्वे)
1929	टामस मान (जर्मनी)
1930	सिन्कलेयर लीविस (अमेरिका)
1931	एरिक एक्सेल कार्लफेल्ड्ट (स्वीडन)
1932	जॉन गाल्सवर्दी (इंगलैंड)
1933	इवान अलेक्सेयेविच बुनिन (रूस)

1934 लुइगी पिरान्देल्लो (इटली)
1936 यूजीन ग्लैडस्टोन ओ' नील (अमेरिका)
1937 रोजर मार्तिन दू गार्द (फ्रांस)
1938 पर्ल एस. वक (अमेरिका)
1939 फ्रांस ईमिल सिलान पा (फिनलैंड)
1944 जोहानेस विल्हेम जेनसेन (डेनमार्क)
1945 गब्रिएला मिस्त्राल (चिली)
1946 हरमन हेस (स्विट्जरलैंड)
1947 आन्द्रे जीद (फ्रांस)
1948 टी. एस. इलियट (इंगलैंड)
1949 विलियम फॉकनर (अमेरिका)
1950 वर्ट्रन्ड रसेल (इंगलैंड)
1951 पार फेवियन लेगरक्विस्ट (स्वीडन)
1952 फ्रांसुआ मौरियाक (फ्रांस)
1953 सर विंस्टन चर्चिल (इंगलैंड)
1954 अर्नेस्ट मिलर हेमिंग्वे (अमेरिका)
1955 हॉल्डर किलिजान लैक्सनेस (आइसलैंड)
1956 हुआन रमोन हिमेनेस (स्पेन)
1957 अल्वेयर कामू (फ्रांस)
1958 बोरिस पास्तरनाक (रूस)
1959 सल्वातोर क्वासीमोदो (इटली)
1960 से जॉन पेर्स (फ्रांस)
1961 ईवो आन्द्रिक (यूगोस्लाविया)
1962 जॉन स्टीनवेक (अमेरिका)
1963 जॉर्ज सेफेरिस (यूनान)
1964 ज्यां पॉल सार्त्र (फ्रांस)
1965 मिखाइल शोलोखोव (रूस)
1966 सेमुअल योसेफ एग्नॉन (इजरायल)
नेल्ली साक्स (स्वीडन)
1967 मिगुएल एंजेल आस्तूरियास (ग्वाटेमाला)
1968 यासूनारी कावावाता (जापान)
1969 सैमुअल वेकेट (आयरलैंड)
1970 एलेक्जेंडर सोलझेनित्सिन (रूस)
1971 पाब्लो नेरूदा (चिली)
1972 हाइनरिख व्योल (जर्मनी)
1973 पैट्रिक व्हाइट (आस्ट्रेलिया)
1974 यविन्ड जॉन्सन (स्वीडन)
हैरी मार्टिन्सन (स्वीडन)
1975 यूजेन्यो मोंताले (इटली)
1976 सौल वेलो (अमेरिका)
1977 एलक्जेन्द्रे विसेन्ते (स्पेन)
1978 इजाक वाशेविस सिंगर (पोलैंड)
1979 ओदीसियस एलाइतिस (यूनान)
1980 चेसवैफ मीव्रॉश (पोलैंड)
1981 एलियास कैनेती (इंगलैंड)
1982 गब्रिएल गार्सिया मार्केज (कोलम्बिया)
1983 विलियम गोल्डिंग (इंगलैंड)
1984 यारोस्लाव साइफर्त (चेक गणराज्य)
1985 क्लॉद सिमोन (फ्रांस)
1986 वोले शोयिंका (नाइजीरिया)
1987 जोसेफ ब्रॉडस्की (रूस)
1988 नजीव महफूज़ (मिश्र)
1989 कैमिलो होसे सेला (स्पेन)
1990 ओक्तावियो पाज़ (मैक्सिको)
1991 नैदीन गॉर्दिमर (दक्षिण अफ्रीका)
1992 डेरेक वॉल्कॉट (संट लूसिया)
1993 टॉनी मारिसन (अमेरिका)
1994 ओए केनजावुरो (जापान)
1995 सीमस हीनी (आयरलैंड)
1996 विस्वावा सिम्वोर्स्का (पोलैंड)
1997 दारिया फो (इटली)
1998 जुसे सारामागो (पुर्तगाल)
1999 गुंटर ग्रास(जर्मनी)
2000 काओ सिन च्येन (चीन)

किसी के न होने की कविता

यूजेन्यो मोंताले इस शताब्दी के महान इतालवी कवि तो थे ही, अनुकरणीय आचरण के आदर्श पुरुष भी थे। उन्होंने स्वयं को कभी कविता और आचरण के अन्तर से उत्पन्न दोगलेपन का शिकार नहीं होने दिया। उनकी मौत की खबर सुनते ही, 1924 में प्रकाशित उनके प्रथम कविता-संग्रहः "समुद्रफेनी की हड्डियां" में संग्रहीत कविता : 'शायद किसी सुवह' की अंतिम पंक्तियां, "और मैं चलता जाऊंगा... चुपचाप/साथ लिए अपना रहस्य/उन लोगों की भीड़ में/जी नहीं पलटते/ कभी नहीं" मेरे जहन में कौंध गईं। 12 अक्टूबर, 1896 में जन्मे मोंताले सन् 1981 में सितम्बर के वारहवें दिन अतीत का हिस्सा बन चुके उन लोगों की भीड़ में शामिल हो गये जो कभी नहीं पलटते और जिनकी यात्रा के बारे में कोई कुछ नहीं जानता।

जन्म से सम्बद्ध शहर जिनोआ में की गई वाणिज्य और संगीत की अधूरी पढ़ाई, प्रथम महायुद्ध में पैदल सेना की नौकरी, प्रकाशन संस्था से जुड़ी जीविका, पुस्तकालयाध्यक्ष के पद से इस्तीफा देने की विवशता, कविता के जरिए जिंदगी की सच्चाई और आदमी तक पहुंचने की आकांक्षा, फासी सत्ता की बर्बरता का अहसास तथा आलोचना एवं अनुवाद के माध्यम से कविता को पहचानने की कोशिश से अर्जित अनुभव को व्यक्त करने के लिए मोंताले ने जिस बंद भाषा का इस्तेमाल किया, उसके वायुरुद्ध स्वभाव के आधार पर आलोचकों ने उनकी कविता को, वायुरुद्ध कविता के आंदोलन से जोड़ दिया। इतालवी कविता के इस महत्त्वपूर्ण आंदोलन के अगुआ उंगारेत्ती ने परम्परा को तोड़ने की खातिर कविता को जीर्ण गीतात्मकता से मुक्त कर, प्रतीकात्मक अर्थवत्ता और बिंदु—चित्रणात्मक प्रभाववाद के संवाहक बिंब को सघन कर दिया। बदहवास आलोचकों ने कविता के नए व्यक्तित्व पर जो विशेषण चस्पां किया, वह था : हर्मेटिक अर्थात् वायुरुद्ध। इस शव्द का प्रयोग सबसे पहले फ्रांसेस्कोफ्लोरा द्वारा 1936 में किया गया। उंगारेत्ती और क्वासीमोदो की कविता की तरह मोंताले की कविता में भी अचेतन मन की वाहरी दुनिया से हुई आकस्मिक टकराहटों की ध्वनियां अक्सर सुनाई तो पड़ती हैं मगर कभी-कभी वायुरुद्ध भाषा के ध्वनिरोध की शिकार होकर अनसुनी भी रह जाती हैं। दान्ते, ट्विलाईट कवियों, भविष्यवादियों, इलियट, पेत्रिआर्क, बर्गसन आदि के प्रभावों के संदर्भ में मोंताले की कविता को समकालीन आलोचकों द्वारा जांचने

की कोशिश भी, उसकी मौलिकता और महानता को जिरह के दायरे में नहीं ला पाई। हर्मेटिकली सील्ड (अवात मुद्रित) थर्मामीटर में बन्द पारा जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के तापमान की सूचना देता है, उसी तरह वायुरुद्ध भाषा में बंद मोंताले की कविता हमें समकालीन राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों और भीतरी संसार और बाहरी दुनिया की टकराहटों के परिणामों की महत्त्वपूर्ण सूचना देती है। बकौल माईकल हैमबर्गर, मोंताले के समय के यूरोप के समूचे राजनीतिक इतिहास की जानकारी बटोरी जा सकती है बशर्ते हम यह समझ सकें कि मोंताले की कविता क्या कहती है और क्या नहीं कहती? इलियट की तरह मोंताले ने भी कवि कर्म की सार्थकता अन्वेषण करने, अव्यक्त के लिए शब्द खोजने और जिन अनुभूतियों को लोग महसूस तक इसलिए मुश्किल से कर पाते हैं क्योंकि उनके पास उनके लिए कोई शब्द नहीं होते/ उन्हें गिरफ्तार करने के दायित्व में तलाश की। यह आकस्मिक नहीं था कि इतावली कविता के पाठकों से इलियट का परिचय, उनकी तीन कविताओं के अनुवाद के जरिए मोंताले ने ही कराया था। प्रभावशाली कलात्मक शैली के कारण उनकी तुलना अक्सर इलियट से की जाती है हालांकि इलियट की 'अवैयक्तिकता' की तलाश और मोंताले की 'अनन्य' व्यक्तिगत की अभिव्यक्ति में कोई खास सम्बन्ध कायम कर पाना लगभग असम्भव ही है। मोंताले प्रेम और अकेलेपन के अप्रतिम कवि थे।

भीड़ की आत्मा की खातिर की जाने वाली लड़ाई अथवा सैद्धान्तिक युद्ध से दूर रहने वाले इलियट ने स्वयं को आंग्ल कैथोलिक श्रेण्यवादी राजभक्त घोषित कर किसी वैकल्पिक मार्ग की ओर संकेत न कर, अपना असली रूप उसी निष्कपट स्पष्टवादिता और आत्मबल के सहारे प्रकट किया, जिसे मोंताले ने फासीवाद से असहमति जताने, उसका विरोध करने और बाद में 'कम्युनिस्टों या डेमोक्रिश्च्यनों' का पक्ष लेने से इंकार करने में प्रदर्शित किया। मोंताले ने कभी चीखकर प्रतिवाद नहीं किया और क्रांति का झंडा उठाकर किसी फासिस्ट विरोधी जुलूस में हिस्सा भी नहीं लिया मगर फासिस्ट पार्टी के सदस्य न होने के कारण, गाविनेत्तो विज्ञान साहित्य पुस्तकालय के अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने में कतई संकोच नहीं किया। उनके तीसरे कविता संग्रह : "धरती क़ा अंत" का उद्घाटक आदर्शवाक्य है : 'राजकुमार/जो सताते हैं।' 1943 में इस संग्रह को स्विटजरलैड से प्रकाशित कर मोंताले ने खामोश रहने के बजाय अपनी जान का खतरा मोल लेना स्वीकार किया। इन दोनों चेष्टाओं में निहित प्रतिवाद की गूंज प्रबल नहीं थी, मगर कालान्तर में मोंताले के इस पारदर्शी आचरण का असर आसमान पर लाल स्याही से प्रतिवाद अंकित करने से ज्यादा सार्थक प्रमाणित हुआ। सत्तरवीं वर्षगांठ के बधाई और शुभकामना संदेशों में उन्हें 'अनुकरणीय आचरण के आदर्श पुरुप' की संज्ञा दी गई। यही नहीं, अपने देशवासियों की नजरों में वे 'शताब्दी के कवि' का दर्जा भी प्राप्त कर चुके थे। किसी के न होने की उनकी कविता (किसी के न होने की है मेरी कविता/वे कहते हैं : अतिथि

सत्कार : 1966) सबकी हो चुकी थी।

मोंताले ने कभी भी चर्च के प्रतिनिधियों, कम्युनिस्टों, दक्षिण या वामपंथियों के आदेशों और उपदेशों को अपने चिंतन पर हावी नहीं होने दिया—यह/जो झिलमिलाती है/निशा के साथ/खोल में मेरे ख्याल..../काले या लाल धर्माधिकारी के हाथों में पली/गिरजे या फैक्टरी से फूटती/रोशनी नहीं(तूफान और अन्य कविताएं (1956)। इसकी वजह से उन पर असम्बद्धता और अप्रतिबद्धता का आरोप भी लगाया गया (किसी के न होने की है मेरी कविता/वे कहते हैं।) जो सही नहीं था, क्योंकि अपने 'स्व' और निजी अनुभव से समर्थित सच्चाइयों से जूझते विश्वास के प्रति वे जीवनपर्यंत निष्ठावान बने रहे। अपनी इस स्व-निष्ठा के कारण वे कभी आत्ममोह के शिकार नहीं हुए। इस संदर्भ में फ्लोरेंस के सिटी-हॉल में आयोजित रात्रि-उत्सव का मजा लूटते हिटलर और मुसोलिनी के प्रसंग के सियाह पक्ष को उकेरती उनकी कविता : हिटलरी बसंत (तूफान और अन्य कविताएं) की मिसाल दी जा सकती है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के प्रति किये जाने वाले घोर अन्याय के खिलाफ आक्रोश और उत्पीड़ितों के प्रति सहानुभूति को इस कविता में, वे हिटलर को 'नरक के दूत' की संज्ञा देकर व्यक्त करते हैं। हिटलर ही नहीं उन्हें हर कोई चाहे, वह दर्शक हो या उत्सव में शरीक तालियां बजाता व्यक्ति अथवा स्वयं दोषी दीखने लगता है—'अब कोई निर्दोष नहीं'।

मोंताले की कविता का प्रवाह है—प्राकृतिक रोष और उससे जुड़ी अशांत विश्रांति। 'समुद्रफेनी की हड्डियों' में शुरू से अंत तक, समुद्र, युद्ध से लौटे कवि के लिए दर्पण और संगीत, दोनों रूपों में उपस्थित है। 'भूमध्यसागर' शीर्षक के कविता-क्रम के अंतर्गत संकलित कविताओं में सुनाई पड़ती हैं सागर की आवाजें, दिखाई पड़ते हैं सागर के अनेक चेहरे। इस संग्रह में दिखाई देने वाली मोंताले की कविता की दुनिया समुद्र की फुहार से झुलसी जमीन, दैवी उदासीनता, जिंदगी की असारता, शून्य के आतंक, आने वाले कल की अनिश्चितता, शब्द-कोषों के घिसे हुए अक्षरों, वर्फ में दफन मुर्दों की भीड़ में ले जाते हुए अकेलेपन, विकृत अस्तित्वों के घिनौने कारागार और धुएं के बादल छोड़ते हुए भ्रम से हमारा साक्षात्कार कराती है।

1936 में प्रकाशित कविता संग्रह : 'सुअवसर' में कवि के अकेलेपन के जरिए उसके अधूरेपन की यातना मुखरित हुई है। इस तथा 'तूफान और अन्य कवितायें', कविता संग्रह की कविताओं में नारी उस जुझारू झंझा-पक्षी अथवा फरिश्ते के रूप में दिखाई देती है जो वर्फीले वादलों के झुण्ड को चीरकर कवि तक पहुंचा है—क्षत विक्षत पंख लिए (पोंछता हूं मैं/तुम्हारी भौहें)। 'सुअवसर' की अधिसंख्य कविताओं में कवि एक पात्र (काल्पनिक अथवा वास्तविक या कवि स्वयं): 'तुम' को सम्बोधित करता हुआ सुनाई पड़ता है। आन्तरिक एकालाप की इस पद्धति से उत्पन्न नाटकीयता कविताओं को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती है और कवि

तथा पाठक के बीच एक सार्थक आत्मीय संवाद का माहौल रचती है। यह संग्रह, जलपरियों, उड़ान भरते पंछियों, जिंदगी की अल्पकालिकता, पेड़ों, उत्तरी हवाओं और छत की ओर उठते धुएं को विस्मय से देखते पादरियों और शतरंज के घोड़ों से सम्बद्ध दृश्यों को उकेरता है। 'धरती का अंत' की कविताएं, अंत के समीप पहुंचती दुनिया की ओर संकेत करती हैं। 'समुद्रफेनी की हड्डियां' से 'अतिथि सत्कार' तक आते-आते, युवा मोंताले की तात्विक अनासक्ति, बूढ़े मोंताले की गहरी आत्मीय सम्बद्धता से मिलकर एक भविष्योद्घोषी समष्टि में बदल चुकी थी। युग्मित तुकों और सही बन्दों से लैस शैलीगत रीतिवाद की जड़ता की जगह छंदमुक्त कविता की लचीली ओजस्बिता ले चुकी थी। राजनीतिक कविता से मोंताले को एलर्जी नहीं थी मगर कविता के राजनीतिक चरित्र के बजाय वे उसके प्रेरणास्रोतों को ज्यादा तरजीह देते थे।

1962 में मोंताले को ''फैल्त्रिनेल्लि'' और 1975 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उन्हें समकालीन पश्चिमी दुनिया के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक बताते हुए नोबेल पुरस्कार चयन समिति ने प्रशस्ति में लिखा : मोंताले ने मानवीय मूल्यों की व्याख्या के लिए भ्रमों का सहारा नहीं लिया। इनकी कविता की अगम्यता कविता के फॉर्म का सवाल नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी है—जिंदगी को समझाने की एक आंतरिक आवश्यकता। इनकी कविता में व्यक्त निषेध या नैराश्य के मूल में युद्ध और आदमी पर अत्याचार वाली दुनिया से घृणा है।

साहित्य के प्रथम नोबेल रत्न : सुइली प्रूइदौम

साहित्य के प्रथम नोबेल-रत्न थे, फ्रांस के कवि—सुइली प्रूइदोम। उनका जन्म 16 मार्च 1939 में तथा देहान्त 7 सितम्बर 1907 में हुआ। उनका असली नाम था—रेने फ्रान्को अरमां प्रूइदोम। वे फ्रांसीसी कविता के पारनासियन स्कूल से सम्बद्ध थे। विज्ञान और दर्शन में उनकी गहरी रुचि थी जिसकी छाया उनकी कविता में दिखाई पड़ती है। पुरातत्त्व की उपलिब्धयों, जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर और बौद्धधर्म से प्रभावित, पारनासियन काव्यांदोलन से जुड़े कवियों ने कला के अतिवादी आग्रहों के विरुद्ध आवाज उठाकर, स्वच्छन्दतावाद का विरोध किया था।

श्री प्रूइदोम दो वर्ष के ही थे कि उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उनका बचपन विधवा मां और बड़ी बहन की देखरेख में बीता। वे इंजीनियर बनना चाहते थे किंतु प्रवेश-परीक्षा के दौरान बीमार पड़ गये और उन्हें अपना इरादा बदलना पड़ा। दुर्भाग्य से प्रेम में भी वे असफल रहे। जिस लड़की से विवाह के उन्होंने स्वप्न देखे उसने उनकी भावनाओं का आदर नहीं किया। हताश प्रूइदोम आजीवन अविवाहित रहे।

उनका प्रथम काव्य संग्रह : "स्टैन्जाज एण्ड पोयम्स", 1865 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह ने न केवल पाठकों व आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया बल्कि वह बिका भी खूब।

"धरती पर मर जाते हैं तमाम नीलक"
"फिर कभी नहीं मिलूंगा मैं उससे"
गुलदान जिसमें मर गई गंधवेणु"

पिछले 135 वर्षों की धूल भी इन काव्यपंक्तियों की रंगदीप्ति को धुंधली नहीं कर पाई। 1866 से 1870 का कालखंड उनकी काव्ययात्रा के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। एक महत्त्वपूर्ण यूनानी कविता का उन्होंने भावानुवाद किया जो "ऑजियन स्टेबल्स" शीर्षक से 1866 में छपा। इसके बाद प्रकाशित हुई उनकी कृति—इटैलियन नोटबुक जो नोटबुक कम है और एलबम ज्यादा; ऐसी एलबम जिसके पन्नों में झिलमिलाते रंग, प्रेमी युगलों और हनीमून मनाते नवविवाहितों के स्वप्नलोक को आलोकित किया करते हैं। इसी दौर में रचे सॉनेटों का संग्रहः "ट्रायल्स", उनकी मृत्यु के बाद 1908 में छपा। प्रांजल अभिव्यक्ति और कलात्मक उन्मेष के कारण, उनके अनेक सॉनेटों को, खासकर उन्हें जिनके प्रेरणास्रोत उनकी

रहस्यवादी धार्मिक उत्कंठाओं में निहित हैं, फ्रांसीसी कविता के इतिहास में अन्यतम स्थान प्राप्त है। उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति, "एकाकीपन", 1869 में छपी। इस संग्रह में दिखाई पड़ती हैं—उदासी के धुंधलके के उस पार से झांकती कवि की आंखें, जिनकी उदासीनता पाठक को सम्मोहित कर देती है; सुनाई पड़ती है पारनासियन कवि की धीमी संयत आवाज, जो अन्ततः उनके समकालीन रोमान्टिक कवियों की आडम्बरपूर्ण शव्दावली में व्यक्त चीख से कहीं अधिक कारगर और मार्मिक सिद्ध हुई।

इस दौर के उनके सृजन में वैविध्य है जिसमें उनके भीतर के संघर्ष की तीव्रता, उनके एकतरफा अपुरस्कृत प्रेम की पीड़ा और उनकी दार्शनिक चिंताएं व्यक्त हुई हैं। उनके कृतित्व का मूलस्वर है—आध्यात्मिक संशय, जिसके एक छोर पर है धर्म से प्रेरित विश्वास और दूसरे पर मोहभंग।

संयोग से परिष्कृत रुचि के फ्रांसीसी काव्य रसिक, उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में रोमान्टिक कविता से ऊब चुके थे। उनकी बदली हुई काव्यरुचि ने प्रूइदोम को लोकप्रियता दिलाने में कारगर भूमिका अदा की। प्रूइदोम की कविता ने नयी काव्यरुचि के अनुकूल वातावरण तैयार किया। उनके अनुभव के आलोक ने उनकी कविताओं को एक अनूठी रंगदीप्ति प्रदान की। पाठकों का साक्षात्कार ऐसे कवि से हुआ जो कल्पना की नाव को चिन्तन के चप्पू से खेकर कविता की नदी पार करना चाहता था, भावनाओं की लहरों में बहकर नहीं। 1870 में फ्रांस और एशिया के बीच युद्ध छिड़ने पर प्रूइदोम ने देश प्रेम की कविताएं लिखीं जो उनके दो काव्यसंग्रहों—युद्ध के चिन्ह (1870) और फ्रांस (1874) में शामिल की गईं। 1881 में वे फ्रांसीसी अकादमी के सदस्य चुने गए।

1964 में नोबेल पुरस्कार ठुकराने वाले कथाकार, नाटककार, दार्शनिक ज्यां पॉल सार्त्र और प्रोवोन्सलभाषी कवि फ्रेदरिक मिस्त्राल सहित, बीसवीं शताब्दी में 12 फ्रांसीसी रचनाकार, स्वीडिश अकादमी द्वारा पुरस्कृत किए जा चुके हैं। इनमें दो विश्वविख्यात फ्रांसीसी-भाषी नाटककार, आयरलैंड के सैम्युअल बेकेट और बेल्जियम के मौरिस मैतरलिंक शामिल नहीं है।

रोमन कवि लूक्रेटियस का उन पर गहरा प्रभाव था। वे अक्सर अनिद्रा से पीड़ित रहा करते थे। ऐसी ही किसी नींदविहीन रात में निर्मल आकाश में झिलमिलाते तारों को गिनते हुए उन्होंने लिखा होगा :

उंडेल दी हैं
किसके विराट कलश ने
असीम अकाश में
हौले से
मोतियों की लम्बी नदियां
और असंख्य दुनियाएं।

अस्तित्व की अनिवार्यता की कविता

सन् 1980 में, जब लिथुआनिया में जन्मे और अमरीका में निवास कर रहे कवि, उपन्यासकार, आलोचक, चिंतक व बहुभाषाविद् चेसवैफ मीवॉश को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित करने की घोषणा की गई तो यह आकस्मिक नहीं था कि साहित्यकारों के मन में दो महान जीवित पोल कवियों—ज़्बिग्नीयेव हेर्बेर्त और तादूयूश रुजेविच—के नाम कौंधे। कारण दो थे—(1) डिसिडेन्ट/निर्वासित पूर्वी यूरोपीय रचनाकारों के प्रति नोबेल पुरस्कार समिति द्वारा बरती जाने वाली सर्वविदित उदारता और (2) मीवॉश को तादूयूश रुजेविच, हेर्बेर्त तथा अन्य देशों के दावेदारों: बोर्खेस, ग्राह्म ग्रीन और नायपॉल पर तरजीह देने के औचित्य की संदिग्धता। स्वीडिश अकादमी ने 1987 में भी अमरीका में प्रवास कर रहे रूसी कवि जोसेफ ब्रॉडस्की को पुरस्कृत कर अपने पुलिटिकल बायस को रेखांकित किया था। आशा की जानी चाहिए कि पूर्वी यूरोप में, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में आए परिवर्तनों को देखते हुए, उसके उक्त दृष्टिकोण में अपेक्षित बदलाव आएगा। इसके संकेत, 1996 में पोलैंड की कवयित्री विस्वावा सिम्बोर्स्का को दिए गए नोबेल पुरस्कार में ढूंढे जा सकते हैं।

मीवॉश का जन्म 30 जून, सन् 1911 में हुआ था। उनके पिता सिविल इंजीनियर थे। उनकी आरंभिक शिक्षा 'मिलनो' में हुई। स्कूली जीवन में रोमन कैथोलिक स्कूलों में दी जाने वाली अनिवार्य धार्मिक शिक्षा का विरोध करने से जुड़ी स्मृतियां उन्हें आज भी गुदगुदाती हैं। मिलनो विश्वविद्यालय से उन्होंने कानून में डिप्लोमा प्राप्त किया। विश्वविद्यालय की पत्रिका में उनकी कविताएं और लेख छपा करते थे। कालेज जीवन में ही वे मार्क्सवाद से प्रभावित हुए। 1931 में उन्होंने अपने मित्रों से मिलकर 'टॉर्च' नामक पत्रिका निकालनी शुरू की।

कवि के रूप में मीवॉश की पहचान, बीसवीं सदी के चौथे दशक के प्रारम्भ में बननी शुरू हुई। उन्हें पोल कविता के प्रमुख आंदोलन : दूसरा मोर्चा (सैकेंड वैनगार्ड) के अगुओं में गिना जाता था। वे और उनके साथी कवि, अपने पूर्ववर्त्ती काव्यांदोलनों—"स्कमंदर" और "पहला मोर्चा" के खिलाफ आवाज उठाकर एक नए काव्यसंस्कार की सृष्टि करना चाहते थे जिसमें शिल्पगत झगड़ों की संकीर्णता के लिए कोई जगह नहीं थी। कविताओं में, ट्रॉय की भविष्यवक्त्री कैसान्द्रा की तरह भविष्यवाणियां करने के कारण मीवॉश और उनके साथी विध्वंसवादी करार

दिए गए। 1933 में उनका पहला कविता-संग्रह : "स्तंभित दौर की कविताएं", प्रकाशित हुआ, जो पुरस्कृत किया गया और परिणामस्वरूप एक फेलोशिप के तहत उन्हें, पेरिस में 1934-1935 के दौरान अध्ययन का अवसर मिला। 1936 में उनका दूसरा कविता संग्रह : "तीन सर्दियां", प्रकाशित हुआ। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जब नाजियों ने पोलैंड पर कब्जा किया तो मीवॉश ने चोरी-छिपे एक नाजी-विरोधी कवितासंग्रह सम्पादित किया और उसे गुप्त रूप से छपवाया तथा वंटवाया। उसी दौर में लिखी गई दमन के शिकार लोगों को समर्पित उनकी पुस्तक : "गरीव लोगों की आवाजें" उनके सरोकारों को रेखांकित करती है। उनका तीसरा कविता संग्रह सन् 1940 में छपा जो अब अप्राप्य है। दो वर्ष बाद उनका चौथा कविता संग्रह : "स्वतंत्र गीत" गुप्त रूप से छपा। 1945 में प्रकाशित कविता-संग्रह : "वचाव" ने उन्हें असाधारण प्रतिष्ठा दिलाई। युद्ध के वाद उन्होंने साहित्यिक आलोचनाएं लिखीं। 1946 से 1950 तक पहले वाशिंगटन और फिर पेरिस में पोलैंड के दूतावासों में राजनयिक दायित्वों का निर्वाह भी किया।

1948 में प्रकाशित हुई, लघु-गुरु चरणों वाली उनकी कविता—"नैतिकता पर शोध प्रबन्ध", जिसमें आतंक के सहारे शासन करने का मजाक उड़ाया गया था। स्तालिनवाद के आतंक से घबराकर 1951 में पोलैंड को अलविदा कहकर उन्होंने पेरिस में शरण ली जहां दस वर्षों तक उन्होंने स्वतंत्र लेखन के जरिए आजीविका अर्जित की। इन दस सालों में मीवॉश ने अनेक गद्य पुस्तकें लिखीं जिनमें से एक थी—"बंदी मस्तिष्क।" यह पुस्तक, स्तालिन युग के पूर्वी यूरोपीय बुद्धिजीवियों और कलाकारों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ऐतिहासिक दस्तावेज है। 1951 में छपी इस पुस्तक में उन्होंने पेरिस जाने की अपनी विवशता की भी व्याख्या की है। स्तालिनवाद, रूस और समाजवादी यथार्थवाद से उन्हें सख्त नफरत है। 'बंदी मस्तिष्क' की भूमिका में मीवॉश लिखते हैं—"रूस के प्रति मेरी भावनाएं सौहार्दपूर्ण नहीं रहीं। पोलैंड और रूस के निवासी कभी एक दूसरे से प्यार नहीं कर सके और मैं भी अपवाद नहीं था। अपवाद अगर थे तो वे लोग थे—जिनमें मेरे कुछ मित्र भी शामिल थे—जो दूसरे महायुद्ध से पहले या युद्ध के दौरान स्तालिन के अनुयायी हो गए।" अपने निर्वासन के कारण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा—"पोलैंड वासियों के लोकतंत्र से नाता तोड़ने का प्रत्यक्ष कारण था समाजवादी यथार्थ। यह निर्णय देना गलत होगा कि मॉस्को द्वारा लाया गया कला का यह सरकारी सिद्धांत लेखक और कलाकार को कुछ सौन्दर्यबोधी रुचियों को छोड़ने के लिए वाध्य करता है। यह इससे कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण चीज सच को त्यागने के लिए वाध्य करता है।" मानवतावादी मीवॉश के सामाजिक सरोकार स्तालिनवाद से टकराते रहे। "झूठ का एक और नाम है समाजवादी यथार्थवाद" उनका कहना है।

पेरिस प्रवास के बाद वे अमरीका में जा बसे। वहां वे वरसों कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, वर्कले में, स्लाव साहित्यों व भाषाओं के विभाग में प्रोफेसर रहे।

उनके अन्य चर्चित कविता संग्रह हैं—"चुनिंदा कविताएं" और "सर्दियों में घंटियां।" लिथुआनिया का भूदृश्य हमेशा उनके विम्बविधान के केन्द्र में रहता है। उनकी प्रयोगशीलता पर पुरानी पोलिश कविता के प्रति मोह इस कदर हावी हो जाता है कि उनकी कविता क्लासिकीयता के सीमान्तों को छूने लगती है। यों वे पारम्परिक काव्य और आधुनिक कविता के तत्त्वों को मिलाकर एक करने में सिद्धहस्त हैं। उनकी कविता के शिल्प के विस्तार का एक छोर अठारहवीं सदी की प्रबन्धकविता और सम्बोधगीति के क्षितिजों को छूता है तो दूसरा फंतासी की दुनिया के किनारों को। मीवॉश चीजों के मौलिक अस्तित्व को अपने प्रतीकों से घेर लेते हैं—यही उनका मुख्य सरोकार भी है। वे स्वयं मानते हैं कि उनकी सर्वश्रेष्ठ कविताओं में उन्होंने चीजों का वर्णन बालसुलभ निष्कपटता से किया है।

कभी-कभी मीवॉश की कविता भी, मिल्टन की कविता की तरह दुर्बोध प्रतीत होती है। पाठक, बाइबल, पोलैंड के इतिहास और ईसाई नैतिकता के संदर्भों के जाल में उलझकर रह जाता है। 1953 में उन्हें प्रिक्स लितरेयर यूरोपियन (यूरोपीय साहित्यिक पुरस्कार) से सम्मानित किया गया। कुछ साहित्यिक आलोचक उन्हें महान कवि मानते हैं। रूसी कवि जोसेफ ब्राडस्की का कहना है कि मीवॉश हमारे युग के महान कवियों में से एक, शायद महानतम कवि हैं। स्वीडिश अकादेमी ने उनके कृतित्व को उस लेखक, उस अजनबी का कृतित्व बताया जिसके लिए "फिजिकल निर्वासन" का वही अर्थ है जो सामान्यतः मनुष्यता के संदर्भ में "मेटाफिजिकल निर्वासन" से प्रतिध्वनित होता है। उनकी प्रशस्ति में कहा गया कि कठिन संघर्षों से भरी दुनिया में मनुष्य की उघड़ी हुई हालत को अदम्य स्पष्ट-दर्शिता से वाणी देने के लिए उन्हें सम्मानित किया गया है। पुरस्कार की सूचना मिलने पर, प्रचार और प्रसिद्धि के ग्लैमर से दूर रहकर एकाकी जीवन बिताने में विश्वास रखने वाले विनम्र मीवॉश ने प्रतिक्रियास्वरूप कहा—"मैंने पोलिश भाषा में कविता लिखने के लिए पुरस्कार हासिल किया है और यही वजह है कि पुरस्कार मेरे लिए महत्त्वपूर्ण हो गया है। मैं अत्यधिक सम्मानित व विचलित महसूस करता हूं और उम्मीद करता हूं कि मैं प्रसिद्धि के फंदों में नहीं फंसूगा।"

बंदी मस्तिष्क के अतिरिक्त उनकी दो और पुस्तकें अंग्रेजी में उपलब्ध हैं—(1) पोलिश साहित्य का इतिहास और (2) युद्धोत्तर पोलिश कविता। पहली पुस्तक पोलिश साहित्य से हमारा अंतरंग साक्षात्कार कराती है। दूसरी पुस्तक में 21 समकालीन पोल कवियों की 90 कविताओं के अंग्रेजी प्रारूप शामिल किए गए हैं। पुस्तक में दो प्रस्तावनाएं भी हैं जो मीवॉश के साहित्यिक विचारों व सरोकारों को रेखांकित करती हैं। उन्होंने शेक्सपियर टी.एस.इलियट, वाल्ट ह्विटमैन और कार्ल सैंडबर्ग की कृतियों को पोलिश भाषा में उल्था किया है। "ऐज़ यू लाइक इट" का उनके द्वारा किया गया अनुवाद काफी चर्चित हुआ। "इस्सा की घाटी" उनका चर्चित उपन्यास है जिसे उन्होंने उन क्षणों में लिखा जिसमें उन्होंने लिथुआनिया

में बिताए अपने बचपन को फिर से जीने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त बहुसर्जक मीवॉश ने शब्दों के कैनवास पर डेफो, बालज़ाक, जींद और टॉलस्टॉय आदि अनेक रचनाकारों के रेखाचित्र भी उकेरे हैं। मातृभाषा पोलिश के अतिरिक्त वे अंग्रेजी, रूसी, फ्रांसीसी, यूनानी तथा हिब्रू भाषाओं में भी निष्णात हैं। यदि पोलैंड में जन्मे और अमरीका में बसे यिद्दिश भाषी उपन्यासकार और 1978 के नोबेल पुरस्कार विजेता इसाक बाशेविस सिंगर को अलग रखा जाए तो अब तक, मीवॉश से पहले केवल तीन पोल साहित्यकार ही नोबेल पुरस्कार जीत पाए हैं—1905 में हेनरिक सेन्केविच, 1924 में वादिसवैफ स्तानिस्वैफ रेयमंट और 1966 में विस्वावा सिम्बोर्स्का।

कविता : जिंदगी के प्रश्नों का उत्तर

साहित्य के लिए, वर्ष 1987 का नोबेल पुरस्कार रूसी कवि जोसेफ ब्राडस्की को दिया गया। घोषणा को सुनकर मुझे प्रख्यात यूनानी कवि कैवाफी की प्रसिद्ध कविता : 'दीवारें' की निम्नांकित पंक्तियां याद आईं—

"उफ!"
क्यों नहीं देखा मैंने उन्हें ध्यान से
जब वे दीवारें चिन रहे थे?
मगर कभी नहीं सुना मैंने कोई शोर
या राजगीरों की आवाजें।
अदृश्य रहकर मुझे
उन्होंने किया बहिष्कृत संसार से।"

इन पंक्तियों के याद आने के कारण दो थे—(1) ब्रॉडस्की अमेरिका में रह रहे थे और (2) कैवाफी की उक्त कविता, व्यवस्था और बुद्धिजीवियों के संबंधों पर गंभीर टिप्पणी करती है। कोई भी व्यवस्था स्वयं पर संदेह करने वाले बुद्धिजीवी को बर्दाश्त नहीं करती। ऐसे बुद्धिजीवी के इर्दगिर्द 'क्लोज्ड सोसाइटी' पक्की ईंटों की दीवार चिन देती है, जबकि 'ओपन सोसाइटी' उसे अदृश्य दीवारों में कैद करती है।

नोबेल पुरस्कार की गरिमा और नोबेल पुरस्कार समिति की विश्वसनीयता अब पहले जैसी नहीं रही। पिछले चार दशकों में (यों भी कई बार) पुरस्कृत कृति के चयन के औचित्य और पुरस्कृत साहित्यकार की पात्रता पर अक्सर उंगलियां उठाई गयी हैं। नोबेल पुरस्कार समिति के सदस्यों के पूर्वाग्रहों व दुराग्रहों पर भी अक्सर चर्चाएं की जाती रही हैं। टालस्टाय और बोर्वेस को पुरस्कृत क्यों नहीं किया गया? पाब्लो नेरुदा और गुंठर ग्रास को पुरस्कार विलम्ब से क्यों दिया गया? वी.एस. नायपाल और ग्राहमग्रीन को क्यों नहीं पुरस्कृत किया गया? इन महत्वपूर्ण सवालों के उत्तर कौन देगा? सम्भवतः कोई नहीं। दुर्भाग्य से नोबेल पुरस्कार समिति ने अपने इर्दगिर्द भी अदृश्य और अलंध्य दीवारें चिन ली हैं। इतिहास साक्षी है कि पिछले चार दशकों में छह डिसिडेन्ट (असंतुष्ट) निर्वासित पूर्वी यूरोपीय साहित्यकारों को ही नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया है—बोरिस पास्तरनाक, शोलोखोव, सोल्झेनित्सिन, चेसवैफ मीवॉश, यारोस्लाव साइफर्त और जोसेफ ब्राडस्की।

1980 में जब अमेरिका में रह रहे पोलैंड के निर्वासित कवि चेसवैफ मीवॉश को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था तो कई साहित्यकारों के मन में दो महान, अपुरस्कृत, जीवित पोल कवियों के नाम कौंधे थे—ज़्बिग्नीयेव हेर्बेर्त और तादूयूश रुज़ेविच, और सात वर्ष वाद जब फिर अमेरिका में रह रहे रूसी कवि ब्रॉडस्की को नोबेल पुरस्कार दिया गया है तो हमारे मन में येव्गेनी येव्तुशेन्को, आन्द्रेई वॉजनेसेन्सकी और बेल्ला अख्मादुलीना आदि जीवित विश्वप्रसिद्ध कवियों के नाम कौंधे। तो क्या, पूर्वी यूरोपीय व्यवस्था से असहमत अथवा उपेक्षित पूर्वी यूरोपीय रचनाकारों को ही पुरस्कृत कर, नोबेल पुरस्कार समिति यह कहना चाहती है कि पश्चिम की खुली हवा में सृजनशीलता विकसित होती है और पूर्वी यूरोप के दमघोंटू माहौल में अवरुद्ध? अगर यह सच है तो फ्रांस के प्रख्यात लेखक ज्यां पाल सार्त्र ने 1964 का नोबेल पुरस्कार क्यों ठुकराया था? सार्त्र यह मानने को तैयार नहीं थे कि दुनिया की सभी महत्त्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद अंग्रेजी में उपलब्ध हो सकते हैं और नोबेल पुरस्कार समिति द्वारा चुना गया रचनाकार निर्विवाद रूप से संसार का श्रेष्ठतम लेखक माना जा सकता है। सार्त्र ने नोवेल पुरस्कार की साख गिराकर और लेखक की गरिमा में अभिवृद्धि कर एक तीर से दो शिकार किए। सच तो यह है कि नोवेल पुरस्कार ठुकराकर सार्त्र ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की उतनी प्रतिष्ठा अब नोबेल पुरस्कार से सम्मानित होकर भी लेखक को नहीं मिलती। आज हमें कितने नोबेल पुरस्कार विजेता रचनाकारों के नाम याद हैं? मगर क्या सार्त्र कभी भुलाए जा सकते हैं? नोबेल पुरस्कार समिति को संभवतः साहित्य की दुनिया के महारथियों की उपेक्षा कर अपेक्षाकृत कम चर्चित या लगभग अज्ञात लेखकों को उपकृत करने में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। यह ठीक है कि चर्चित होना किसी पुरस्कार को जीतने की शर्त नहीं हो सकती लेकिन मीवॉश को हेर्बेर्त और रुजेविच, एलियास कैनेती और गोल्डिंग को ग्राहम ग्रीन तथा ब्राडस्की को यव्तुशेन्को और वॉज्नेसेन्स्की पर तरजीह देने के औचित्य को सिद्ध करना कठिन ही नहीं लगभग असंभव भी है। सच तो यह है कि 'डिसिडेन्ट'/निर्वासित पूर्वी यूरोपीय रचनाकारों के प्रति नोबेल पुरस्कार समिति द्वारा दिखाई जाने वाली सर्वविदित उदारता के कारण उनके कृतित्व का सही मूल्यांकन भी नहीं हो पाया। ब्राडस्की की कविता का भी सही मूल्यांकन नहीं हो सकेगा क्योंकि रूस में उनकी, अब तक गिनी-चुनी कविताएं ही छपी हैं और अंग्रेजी में उपलब्ध उनकी कविताओं के अधिसंख्य रूपांतर, पश्चिम यूरोप की विश्वविख्यात प्रकाशन संस्था : पेंग्विन द्वारा प्रकाशित पुस्तकों—'पेंग्विन माडर्न यूरोपियन पोयट्स : जोसेफ ब्रॉडस्की', 'पोस्टवार रशन पोयट्री', और 'रशन राइटिंग टुडे' के माध्यम से ही हमारे सामने आए हैं। जाहिर है उनकी कविता के बारे में पश्चिम के कवियों और आलोचकों द्वारा व्यक्त की गयी राय, पूर्वी यूरोप और तीसरी दुनिया के सुधी पाठकों को राजनीतिक आग्रहों से ग्रस्त एवं अतिरंजना पूर्ण लगेगी।

सबसे कम उम्र के नोबेल पुरस्कार विजेता कवि, जोसेफ ब्रॉडस्की का जन्म सन् 1940 में लेनिनग्राद में हुआ था। पेशेवर यहूदी फोटोग्राफर पिता के घर जन्मे ब्रॉडस्की को स्कूल रास नहीं आया। अध्यापकों के उलाहनों और सहपाठियों की उपेक्षा से तंग आकर पन्द्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। संभवतः जिन्दगी की उलझनों के हल उन्हें कविता में मिलने लगे थे, अतः उन्होंने कविता को अपना जीवन समर्पित करने का निश्चय किया। अठारह वर्ष की उम्र में उन्होंने कविता लिखना शुरू किया। इन्द्रधनुषी सपनों के रंगों और हताशा, पराजय, ऊब और थकान की कालिमा से उन्होंने अपने कवि का सेल्फ पोर्ट्रेट बनाना शुरू किया–"मेरा गीत बेसुरा हो गया था। मेरी आवाज फट गयी थी (मैं अपनी खिड़की के पास बैठता हूं), "बहुत ठंडा है मेरा खून" (मृत प्रकृति); "थकान अब अक्सर मेरी मेहमान बनती है" (थकान अब.....)। कुछ ऐसा सिलसिला बना कि उन्हें अपनी उलझनों के हल कविता में मिलते चले गए और वे कविता लिखते चले गए और देते चले गए जिदंगी के सवालों के जवाब कविता से। जीवन की कार्यशाला के होनहार शिक्षार्थी, ब्रॉडस्की ने स्वाध्याय से अंग्रेजी, स्पैनिश और पोलिश भाषाएं सीखीं। रोजी-रोटी की खातिर उन्होंने कारखानों में मशीनें चलाईं, शवग्रहों में लाशें चीरीं और जहाजों में भट्ठियों में आग प्रज्वलित की और भूवैज्ञानिक अभियानों में मजदूर के रूप में भी भाग लिया।

परिस्थितिवश उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा क्योंकि, वे अनुसारक (कॉन्फार्मिस्ट) नहीं थे किन्तु, स्कूल उनकी स्मृति में दर्शनीय स्थल बना रहा। कालान्तर में वे अपनी सुप्रसिद्ध कविता : 'स्कूली चयनिका से', में अपना स्कूल फिर देखने गए–"उसने (ओलेग पोद्दोब्रा ने) और मैंने एक साथ स्कूल छोड़ा।" रूस में अनुवादकों को अच्छा पारिश्रमिक मिलता है इसलिए ब्राडस्की अनुवादक के रूप में जाने जाने लगे। सन् 1963 में एक दिन अचानक उन्हें सामाजिक परजीवी घोषित कर काफ़्का के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'मुकदमा' के नायक (श्रीमान 'क' जिसे मालूम नहीं था कि उसे किस अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा रहा था) की भांति गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी कविता राजनीति से कतराती थी किन्तु चूंकि वे अनुसारक (कन्फार्मिस्ट) नहीं थे, 1964 में उन्हें पांच वर्ष के देश निकाले की सजा दी गयी। सौभाग्य से उनके मुकदमे को पश्चिम में अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई अतः सजा की अवधि पूरी होने से पहले ही नवम्बर 1965 में उन्हें दण्डमुक्त कर दिया गया। जून 1972 में जब यहूदियों को इस्राइल जाने की अनुमति दी जाने लगी, ब्रॉडस्की आस्ट्रिया चले गए जहां उनकी मुलाकात अपने भावी परामर्शदाता, विख्यात ब्रितानी कवि डब्ल्यू.एच.आडेन से हुई। बाद में वे अमेरिका में वस गए। 1972 में लंदन के अन्तरराष्ट्रीय काव्योत्सव का उन्हें निमंत्रण मिला। आडेन के आग्रह पर निमंत्रण स्वीकार कर लन्दन में श्रोताओं को उन्होंने अपनी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएं सुनाईं जिनमें इलियट की मृत्यु पर लिखी

गयी कविता भी शामिल थी। चेसवैफ मीवॉश, मिलान कुंडेरा और एलेक्सान्द्र सोल्झेनित्सिन की मानिन्द ब्रॉडस्की विदेश में रहते हुए भी अपनी मातृभाषा में ही साहित्य रचते हैं। नितांत अजनबी सांस्कृतिक परिवेश में अंग्रेजी भाषा के गौरव के आतंक से घिरकर भी रूसी भाषा में कविता लिखने की चुनौती स्वीकार कर उन्होंने अपनी संघर्षशीलता का सबूत तो दिया ही अपने आत्मविश्वास का परिचय भी दिया। उनके प्रशंसकों में राबर्ट लोवेल, चेसवैफ मीवॉश और हेनरी गिफ्फर्ड जैसे लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार शामिल हैं। रूप एवं कथ्य की दृष्टि से ब्रॉडस्की परम्परावादी कवि हैं। कुछ समीक्षक उन्हें रूसी कविता के लेनिनग्राद स्कूल से जोड़ते हैं और मानते हैं कि ब्रॉडस्की स्तालिनोत्तर रूस के महानतम कवि हैं। लेनिनग्राद की प्रख्यात कवयित्री अन्ना अख्मातोवा उन्हें उनकी पीढ़ी का सर्वाधिक प्रतिभाशाली कवि मानती थीं। प्रकृति, प्रेम, घृणा, मनुष्य, जीवन, मृत्यु एकाकीपन को केन्द्र में रखकर उन्होंने ऐसी अनेक छन्दोबद्ध कविताएं लिखीं, जो संरचनात्मक संघनता, अप्रतिम बिंब-विधान और अभिनव शब्द प्रयोग के लिए विख्यात हो चुकी हैं। बिम्बों की पारदर्शिता, ध्वनिसौन्दर्य, बौद्धिक स्पर्श, आकर्षक विवरणात्मकता और व्यंग्य उनकी कविता की अन्य विशेषताएं हैं। काव्य शिल्प में निष्णात ब्रॉडस्की काव्य रूपों, ध्वनियों और शब्दों के असाधारण प्रयोग के लिए विख्यात थे। अपनी कविता 'थकान अब अक्सर मेरी मेहमान बनती है' में वे अपनी कविताओं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"जरूरी है तुम्हारे लिए रहना नवीनतम शैली के निलयों में/और गाना संगीत समारोहों में नवीनतम वीणा की तान के साथ।" किशोरावस्था के कड़ुवे अनुभवों ने उन्हें मानवद्वेषी नहीं बनाया। उनके सरोकार मनुष्य के अस्तित्व की चिंता से सम्बद्ध थे किन्तु मनुष्य की रजनीतिक और समाजशास्त्रीय व्याख्या में उनकी कोई रुचि नहीं थी—"और मैं, एक लेखक जिसने दुनिया देखी है/पार की है जिसने गधे पर सवार हो/भूमध्यरेखा खिड़की में से डालता हूं बाहर दृष्टि/सोई हुई पहाड़ियों पर/ और सोचता हूं अपने/सबके दुखों के बारे में, उसका कि सम्राट उससे भेंट नहीं करेंगे/ मेरा कि मेरा पुत्र और सिंथिया नहीं....और हम/हम यहीं मर जाएंगे।" रूसी कवियों में, अन्ना अख्मातोवा, दर्झेविन मान्देलस्तम, पास्तरनाक और त्स्वेतायेवा ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया। मारीना त्स्वेतायेवा को तो वे रूस की सर्वकालीन सर्वश्रेष्ठ कवयित्री मानते थे। रूसी काव्य परम्परा के वर्णक्रम के एक छोर पर यदि मायकोव्स्की को रखा जाए तो दूसरे छोर पर ब्रॉडस्की को रखा जायेगा। हेर्बेर्त, मीवॉश, इलियट, ऑडेन, जॉनडन आदि विदेशी कवियों ने भी उन्हें काफी प्रभावित किया। अंग्रेजी के मेटाफिजिकल कवियों के वे भक्त थे। जॉनडन को वे सर्वश्रेष्ठ 'लिरिक पोएट' मानते थे। इलियट और जॉनडन पर लिखे उनके शोकगीत उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में शुमार किए जाते हैं। ब्रॉडस्की स्वयं भी दार्शनिक, मेटाफिजिकल कवि थे। व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रिज्म में से गुजरती हुई उनकी कविता जिंदगी के सारतत्त्व के अनेक रंगों से

हमारा साक्षात्कार कराती है और वस्तुओं तथा व्यक्तियों के पारस्परिक परिवर्तनात्मक संवंधों को उनकी स्थिरता के संदर्भ में परिभाषित करती है। जोसेफ ब्रॉडस्की जो थे वही दीखने की निरंतर कोशिश करते थे। उनकी इसी कोशिश ने अनुसारकता (कन्फार्मिज्म) के उन दबावों से रूस में उनकी रक्षा की थी जो उनकी कविता को स्वीकार करने से इन्कार करके, व्यवस्था ने उन पर डाले थे और इसी कोशिश ने पश्चिम के उन प्रलोभनों से उनकी रक्षा की जो वहां की व्यवस्था द्वारा विदेशी प्रतिभाओं को अपनाने की नीति के अन्तर्गत उन्हें दिए जाते हैं।

रूसी साहित्य के इतिहास में उन्हें कहां रखा जाएगा? यह प्रश्न अब अनुत्तरित रहेगा क्योंकि रूस लौटने तथा उनके कृतित्व को रूस में व्यापक स्वीकृति मिलने से पहले ही सन् 1992 में उनका निधन हो गया। सौन्दर्यबोध और नैतिकता में वे अटूट सम्बन्ध मानते थे। बुरी कला बुरे चरित्र की परिचायक होती है—उनका कहना था। कविता को वे गद्य से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे—मनुष्य के लिए। वे मानते थे कि कवि का फर्ज है अच्छी कविता लिखना और भाषा को नया करते रहना। उन्होंने जॉनडन व कुछ अन्य मेटाफिजिकल कवियों तथा रॉवर्ट फ्रॉस्ट की कविताओं को रूसी में उल्था किया। उनकी उल्लेखनीय पुस्तकें हैं—(1) टी.एस.इलियट की मृत्यु पर लिखे छंद (2) संगीतविहीन गीत (3) भाषण का अंश (काव्यसंग्रह) तथा (4) एक से कम (निबन्ध संग्रह)। 'एक से कम' में शामिल निबन्धों में कविता तथा रूस और अन्य देशों के प्रख्यात कवियों के कृतित्व पर गम्भीर चर्चा की गई है।

बड़ी क्रूर थी बीसवीं शताब्दी

सन् 1990 का नोवेल पुरस्कार मेक्सिको के प्रख्यात कवि और निबंधकार ओक्तावियो पाज़ को प्रदान किया गया। 76 वर्षीय पाज़ को पुरस्कार देने की घोषणा में स्वीडिश अकादमी ने कहा—यह पुरस्कार पाज़ को, उनके विस्तृत क्षितिज वाले, मानवीय ईमानदारी और संवदेनशील वौद्धिकता से पूर्ण आवेगमय लेखन के लिए प्रदान किया गया है। पाज़ के रूप में वह स्पेनी भापा के एक ऐसे लेखक को सम्मानित कर रही है जिसके पास एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। पाज़ की कविता और उनके निबंध, कोलंबियाई इंडियन, स्पेनी विजेताओं की तथा पश्चिमी आधुनिकतावाद की, संस्कृतियों के फलदायी संगम से जन्म लेते हैं।

घोषण के दौरान वे, मैट्रोपॉलिटन कला-म्यूज़ियम में चलने वाली, मेक्सिको की कला-प्रदर्शनी के सिलसिले में न्यूयॉर्क आये हुए थे। वे मैनहटन होटल में चैन से सोए हुए थे कि टेलीफोन पर खबर मिली। वाद में पत्रकारों से वात करते हुए उन्होंने कहा—"मैं चकित हूं। पुरस्कार के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता। इससे अमरत्व का द्वार तो नहीं खुलता किंतु इसके कारण आप पाठकों की एक बड़ी दुनिया तक पहुंच सकते हैं।" स्पेनी दुनिया के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान : 'सर्वेन्तीज पुरस्कार' से 1981 में तथा प्रतिष्ठित अमरीकी पुरस्कार : 'न्यूस्तात पुरस्कार' से 1982 में उन्हें पहले ही सम्मानित किया जा चुका था। कविता को अपने अस्तित्व की अनिवार्य शर्त मानने वाले पाज़ ने पत्रकारों को बताया—"कविता अव लोकप्रिय कला नहीं रही किंतु यह मानवीय अस्तित्व के लिए अत्यधिक ज़रूरी चीज़ है। कविता एक देश, एक भाषा की स्मृति है। कविता की अनुपस्थिति में लोग ठीक ढंग से वात भी नहीं कर सकते। मैं जीवन पर्यंत सक्रिय रहना चाहता हूं। हम अकेले जन्म लेते हैं और हमारा पहला काम होता है अन्य लोगों में शामिल होना। कम्यूनियन (सहभागिता) की इस प्यास को मुझे दूसरों तक पहुंचाना है। भापा, सार्वजनिक संपत्ति है। लेखक भापा का संरक्षक मात्र है। मेरा काम था—अच्छा लिखना। जितना अच्छा मैं लिख सकता था मैंने लिखा।" दुनिया भर से आए पत्रकारों के सवालों के जवाब, फ्रांसीसी, स्पेनी और अंग्रेजी भापाओं में देते हुए पाज़ ने वीसवीं सदी पर टिप्पणी करते हुए कहा—"वर्तमान शताब्दी वड़ी क्रूर है। दो महायुद्धों, कान्सन्ट्रेशन कैंपों और अणुबम से हमने इस शताब्दी में साक्षात्कार किया है। अतः

कवियों को समाज की आलोचना करनी चाहिए। यह भयावह शताब्दी है। अनेक कवियों की मृत्यु नज़रबंदी-शिविरों में हुई। आज सारी दुनिया में आज़ादी लौट आई है और यह महत्त्वपूर्ण है। कला और दुनिया में आए बड़े परिवर्तनों से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई है।" उन्होंने पत्रकारों को यह भी बताया कि उनकी अगली कृतिः 'दूसरी आवाज़', कविता के समर्थन में आवाज़ बुलंद करेगी।

ओक्तावियो पाज़ का जन्म मेक्सिको में, 31 मार्च सन् 1914 में हुआ था और मृत्यु हुई 20 अप्रैल को 1998 में। 17 वर्ष की उम्र में उनके साहित्यिक जीवन की शुरुआत हुई। मेक्सिको की नैशनल यूनिवर्सिटी में अध्ययन करने के पश्चात् मेक्सिको के राजनयिक के रूप में वे विदेश चले गए। 1962 से 1968 तक वे भारत में मेक्सिको के राजदूत के पद पर आसीन रहे। 1968 में मेक्सिको में ओलिंपक खेलों पर किए जा रहे ख़र्चे के विरोध में वहां के छात्रों ने प्रदर्शन किए। सरकारी आदेश पर पुलिस ने हिंसात्मक कार्यवाही की। इस सरकारी बर्बरता के विरोध में राजदूत के पद से इस्तीफा देकर पाज़ ने अपनी प्रतिबद्धता और सरोकारों को रेखांकित किया। लेखन के बाद बचे समय का उपयोग, वे एक साहित्यिक पत्रिका : 'वुएल्ता' को संपादित और प्रकाशित करने में करते थे। जब वे भारत में थे, भारतवासियों की सादगी, स्पष्टवादिता और सरलता के कारण वे भारत से बेहद प्रभावित हुए थे; यद्यपि उन्हें तब तक, अनेक देशों और संस्कृतियों से साक्षात्कार के अनेक अवसर मिल चुके थे। भारत से पाज़ का गहरा रिश्ता था। सन् 1955 में जब वे पहली बार भारत आए थे तो एलिफेंटा की गुफाओं की मूर्तियों को देखकर विस्मित रह गए थे। भारतीय कला व संस्कृति से उनका यह पहला परिचय था। बाद में जब वे यहां राजदूत बनकर आए तो यह परिचय अंतरंगता में बदल गया। वे स्वयं स्वीकारते थे कि भारत का प्रभाव उनकी कविता, उनके गद्य और जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है। भारत छोड़ते समय उन्होंने एक कविता लिखी—

शिव और पार्वती!
हम तुम्हें पूजते हैं
भगवानों के रूप में नहीं
किंतु मनुष्य के देवत्त्व की
मूर्तियों के रूप में.....

1984 में दिल्ली में, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में एक घंटे तक उन्होंने अपनी कविताएं पढ़ी थीं जिन्हें अनेक भारतीय लेखकों, कवियों और सहृदय श्रोताओं ने मुग्ध होकर सुना था। 1985 में वे फिर भारत आए। तब उन्होंने विधिवत्, जवाहरलाल नेहरू स्मारक व्याख्यान दिया था और भारतीय ज्ञानपीठ का सन् चौरासी का पुरस्कार तकषी शंकर पिल्ले को अर्पित किया था।

अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में विश्वास रखने वाले ओक्तावियो पाज़ की विशिष्ट

अतियथार्थवादी कविता, आलोचकों व पाठकों द्वारा दुनिया के अनेक देशों में समादृत हुई है। कविता के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य, कला, नृविज्ञान व संस्कृति की समीक्षाएं भी लिखी हैं। उनके राजनीतिक और दार्शनिक निबंधों ने भी उनकी प्रतिष्ठा में बहुमूल्य योगदान दिया है। 1989 में प्रकाशित उनकी दोनों कृतियां (i) 'हुआन सोरियान्तो का चित्र' तथा (ii) 'पाज़ का श्रेष्ठतम कृतित्व'—खासी चर्चित हुईं। 1958 में प्रकाशित 'सूर्यकांत' तथा 1962 में प्रकाशित 'अकेलेपन की भूलभूलय्या' उनकी विश्व प्रसिद्ध कृतियां हैं। 'अकेलेपन की भूलभूलय्या' संभवतः उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें उन्होंने आधुनिक मेक्सिको और 'मेक्सिकन व्यक्तित्व' की चौंकाने वाली व्याख्या की है, जिसे लेकर खासा विवाद भी चला। मेक्सिकोवासियों को इसमें उन सहज 'नाशवादियों' के रूप में चित्रित किया गया है जो एकाकीपन और उत्सवों और अनुष्ठानों की औपचारिकता के मुखौटों के पीछे छुपे रहते हैं।

तात्त्विक गूढ़ता से युक्त उनकी कविता के सरोकार उन विरोधाभासों से जुड़ते हैं जो अमरत्व और काल से बंधकर जीने के बीच पसरे हुए हैं। उनकी कविताओं के प्रेरणा स्रोत, मेक्सिको के जीवंत सांस्कृतिक अतीत में ढूंढे जा सकते हैं। 'सूर्यकांत' और 'देश के प्रवेश द्वार' आदि उनकी कुछ प्रसिद्ध कविताओं के केंद्र में, मृत्यु की तुलना में जीवन की श्रेष्ठता तथा एकांत में भी मनुष्य की प्रकृति से एकात्मकता की उपस्थिति महसूस की जा सकती है। वे स्वयं को 'डिसइलूजंड वामपंथी' कहते थे। रूस और क्यूबा में राजनीतिक व सांस्कृतिक बंदिशों को देखकर साम्यवाद से उनका मोहभंग हुआ था। अपने देश के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और 'सेलेबल' लेखकों में से एक; पाज़ का कहना था कि समाजवाद का, डिक्टेटरशिप का रूप मर चुका है और साम्यवाद को जबरन लादने का ज़माना भी लद चुका; किंतु सामाजिक न्याय के पक्षधर समाजवाद और साम्यवाद सदा प्रासंगिक रहेंगे। आज वे हमारे बीच नहीं है मगर उनकी कविताएं और स्मृतियां हमेशा हमारे साथ रहेंगी।

एलकी वादी का विलाप

उत्तरी चिली स्थित एलकी घाटी में बसे एक छोटे से गांव विकूना में 7 अप्रैल, 1889 को गब्रिएला मिस्त्राल का जन्म हुआ था और 1957 में 11 जनवरी को न्यूयार्क में कैंसर से उनका देहांत हुआ। उनकी इच्छानुसार उनके पार्थिव शरीर को एलकी घाटी में बसे गांव मोनोग्रांदे में दफनाया गया जहां उनका बचपन बीता था। वे अनेक वर्षों तक राजनयिक सेवा से संबद्ध रहीं और उन्होंने अनेक देशों की यात्राएं भी कीं।

उनके जन्म का जश्न उनके बेकार पिता ने एक कविता लिखकर मनाया जिसमें उन्होंने प्रत्यक्षतः नवजात शिशु की नियति तथा परोक्षतः अपनी विपन्नता पर दुख व्यक्त किया था। उनका बचपन का नाम था लुसीला गोदोई इ अल्कायागा किंतु बड़ी होकर प्रख्यात इतालवी कवि ''गब्रिएल 'द' अन्नुन्जियो'' तथा 1904 के संयुक्त नोबेल पुरस्कार विजेता, फ्रांस के प्रोवोंसलभाषी कवि फ्रेडरिक मिस्त्राल से प्रभावित होकर उन्होंने अपनाया उपनाम—गब्रिएला मिस्त्राल। उनका बचपन मां अल्कायागा की छत्रछाया में बीता क्योंकि उनके बेकार अध्यापक पिता गोदाई एक दिन घर छोड़कर कहीं भाग गए और फिर कभी नहीं लौटे। बचपन में गब्रिएला अक्सर एकांत में पक्षियों और फूलों से बात किया करती थीं। संभवतः यही उनकी नियति थी क्योंकि पिता, पति और पुत्र का प्यार और संरक्षण उन्हें जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुए। 17 वर्ष की आयु में एक रेलवे कर्मचारी रोमीलियो उरेता से उन्हें प्रेम हो गया, किंतु 1909 में एक दिन उसने आत्महत्या कर उन्हें स्तब्ध कर दिया और फिर एक दिन, सहसा एलकी वादी की बियाबानी और झुलसे हुए पर्वतों की स्तब्धता से टकराकर उनका विलाप दूर-दूर तक लोगों को सुनाई देने लगा। लुसीला का, गब्रिएला मिस्त्राल में कायांतरण हो चुका था। गब्रिएला आजीवन अविवाहित रहीं। उन्होंने अपने भतीजे को गोद लिया किंतु 1944 में एक दिन रहस्यमय परिस्थितियों में उसने भी आत्महत्या कर ली। जीविका के लिए उन्होंने अध्यापन का सहारा लिया। अंततः उन्होंने अपनी ममता स्कूली बच्चों पर न्यौछावर कर दी।

1922 में न्यूयार्क से प्रकाशित उनके प्रथम महत्त्वपूर्ण काव्यसंग्रह : 'हताशा' की पंद्रहवीं कविता में उस आंसू की आर्द्रता महसूस की जा सकती है जो मृत पिता के अजन्मे पुत्र के लिए उनकी आंख से ढुलका था। लातिनी अमरीकी कविता

के क्षेत्र में खुरदरी भाषा, मौलिकता, अभिव्यक्ति सामर्थ्य के नए आयामों के लिए चर्चित इस संग्रह ने उनकी पहचान स्थापित की। 1923, 1926 और 1954 में इस संग्रह के संशोधित संस्करण भी प्रकाशित हुए। दरअसल गब्रिएला मिस्त्राल अपनी कविताओं से कभी पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पाई अतः गाहे-बगाहे उनमें वे संशोधन करती रहती थीं। परिणामस्वरूप उनकी कविताएं अनेक प्रारूपों में उपलब्ध हैं। कालांतर में उनके तीन और कविता संग्रह प्रकाशित हुए है—1924 में "सुकुमारता", 1938 में "विध्वंस", और 1954 में "कोल्हू"। सन 1914 में सांतियागो शहर में एक उत्सव का आयोजन किया गया था जिसमें गब्रिएला मिस्त्राल को कविता के लिए पुरस्कृत किया गया। यह शुरुआत थी उनकी कविता की एक लंबी जययात्रा की। उनकी कविता के प्रेरणास्रोत एलकी वादी, वहां के किसानों, प्रेम और मातृत्व में ढूंढे जा सकते हैं। 'हताशा' की कविताएं, प्रणय, मृत्यु, शाश्वतता, ईश्वर, प्रकृति और कृषि जीवन की परिक्रमा करती हैं। खंड शीर्षक : 'दोलौर' अर्थात् 'दुख' के अंतर्गत संकलित भावप्रवण कविताएं उनके प्रथम और असफल प्रेम-प्रसंग के इर्द-गिर्द बुनी गई हैं जिन्हें स्पेनी साहित्य में विशिष्ट दर्ज़ा मिल चुका है। प्रेम अथवा प्रणय में उन्हें कभी तुष्टि नहीं मिली क्योंकि लौकिक प्रेम की अपनी सीमाएं होती हैं। प्रथम मिलन का वर्णन करतीं उनकी निम्नांकित काव्य पंक्तियां उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत की जा सकती हैं—

एक गीत....
उभरा उसके लापरवाह होंठों पर
मगर जब उसने मुझे देखा
उसका गीत उदास हो गया
मैंने रास्ते पर नज़र डाली
जो दिखाई दिया अजनबी-सा
स्वप्निल
और दमकती भोर में
आर्द्र हो उठा मेरा चेहरा
आंसुओं से।

"अंतिम त्रासदी का बोध" उन्हें हमेशा त्रस्त करता रहा। उनकी अनेक प्रेम कविताओं में इस बोध की रहस्यमय सिहरन महसूस की जा सकती है—

मैंने उससे बात की
उसके और अपने भविष्य के बारे में
खून और आंसूओं की जानलेवा लेई

अतः प्रेम में ही नहीं बल्कि अन्य तमाम वस्तुओं में भी वे अनंत और शाश्वत को तलाशती रहीं और अनंत और शाश्वत की यही खोज उनकी कविता को अन्यतम गरिमा और विशिष्टता प्रदान करती है। उनका दूसरा कविता संग्रह :

''सुकुमारता'' 1924 में मैड्रिड से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में मातृत्व की कामना मुखरित हुई है। वे एक काल्पनिक पुत्र की एक ऐसी मूर्ति गढ़ती हैं जो यथार्थ के स्पर्श मात्र से पिघल जाती है। बच्चों के प्रति जो कोमल भाव मिस्त्राल के मन में जागते हैं, वे उनके वास्तविक जीवन के इस गहरे दुख में उनकी रक्षा करते हैं, जो अन्यथा उनकी कविता की प्रेरणा को नष्ट कर देता।

इस संग्रह के अंत में वे हताशा की कैद से मुक्त होकर प्रकृति के विशाल प्रांगण में पहुंचती दिखाई देती हैं। अपनी अनेक कविताओं में वे प्रेम के नए क्षितिजों और विराट मूल्यों की खोज करती हुई लातिनी अमेरिकी इतिहास के उत्खनन में जुटी दिखाई देती हैं। भौतिक संसार की नश्वरता से अप्रभावित, अपरिवर्तनशील तत्त्व की, प्रेम तथा प्रकृति चिंतन के माध्यम से खोज करतीं उनकी कविताओं में धार्मिक भावनाएं भी झिलमिलाती हैं। उनकी जो कविताएं परिवार के नाभिक की परिक्रमा करती हैं उनमें पिता लगभग अनुपस्थित है। तीसरा संग्रह : ''विध्वंस'' (स्पेनी नाम 'ताला' जो बच्चों के एक खेल का नाम भी है।) स्पेन के गृहयुद्ध के शिकार नन्हे बच्चों की सहायता को लक्ष्य में रखकर ब्यूनेस आयर्स में प्रकाशित किया गया। इस संग्रह का पहला हिस्सा कवयित्री की मां की मृत्यु को समर्पित किया गया है जिसमें शामिल कविताओं में वे अपने अतीत को नकारती हुईं, विध्वंस की कामना करती हैं। ''कोल्हू'' में प्रकृति विषयक अनेक कविताएं शामिल की गई हैं। ''ताला'' में दिखाई देने वाला लोक साहित्य का प्रभाव ''कोल्हू'' में नहीं दिखाई पड़ता। आरंभिक कविताओं की रागात्मकता, अंतिम दो संग्रहों की कविताओं में, सूक्ष्मता और परिपक्वता में रूपांतरित हो गई जान पड़ती है। अंतिम संग्रह : ''कोल्हू'' की पहली कविता ''अन्य'' की निम्नांकित पंक्तियां देखिए—

किसी को
अपने भीतर
मार डाला मैंने
उसे प्यार करना
मैंने छोड़ दिया था।

एक अन्य कविता : 'आखिरी पेड़' में वे मृत्यु की कामना करती हैं। ज़िंदगी के पार जाने के भ्रम को व्यक्त करती हुई वे एक संकेत देती प्रतीत होती हैं कि मानो अपनी दूसरी जिंदगी शुरू कर चुकी हों और इस दूसरी जिंदगी में वे ''विश्राम के वृक्ष'' को खोज ही लेगी—

कभी-कभी इसके पत्ते
मेरी नींद में खलल डालते हैं
और मरकर इसके नीचे
मैं गाती हूं बेखबर।

बच्चा, प्रणय, मातृत्व, धरती और मृत्यु चिंतन को केंद्र में रखकर गब्रिएला

ने अनेक अप्रतिम कविताएं लिखीं। चिली की इस महान आंचलिक कवयित्री ने कविता के माध्यम से चिली में आधुनिकतावाद की नींव रखी। कई आलोचक उनकी गणना, कृत्रिमता, जटिलता और बौद्धिकता से आक्रांत बीसवीं शताब्दी में अतिविशिष्ट सहज "नेव" कविता रचने वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में करते हैं।

सन् 1945 में गब्रिएला मिस्त्राल ने पहली बार चिली और लातिनी अमेरिका के लिए नोबेल पुरस्कार जीता। कविता के लिए स्वीडिश अकादमी द्वारा पुरस्कृत की जाने वाली वे प्रथम महिला थीं। उनसे पहले केवल चार महिला कथाकारों को नोबेल पुरस्कार जीतने का गौरव हासिल हो सका था। गब्रिएला मिस्त्राल ब्राज़ील में थीं जब उन्हें नोबेल पुरस्कार मिलने की खबर मिली। ख्याति उनकी सादगी व आदतों में कोई परिवर्तन न ला सकी। पुरस्कार राशि से उन्होंने लॉस एंजेल्स में एक मकान बनवाया। स्वीडिश अकादमी ने प्रशस्ति में कहा—पुरस्कार उन्हें उनकी उस गीतात्मक कविता के लिए दिया गया है जो तीव्र आवेगों से संचालित होती है और जिसने उनके नाम को समूची लातिनी अमेरिकी दुनिया की आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतीक बना दिया है।

कवि ऐसा विदूषक है जो लिखता है

साहित्य में मौलिक लेखन के लिए दिए जाने वाले सर्वाधिक प्रतिष्ठित और गरिमामंडित अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार—'नोबेल पुरस्कार' की घोषणा नोबेल फाउंडेशन ने 1895 में की थी किंतु पहली बार दिया गया 1901 में। यह पुरस्कार नोबेल पुरस्कार के संस्थापक, डाइनामाइट के आविष्कारक स्वीडन के कैमिकल इंजीनियर व उद्योगपति एल्फ्रेड वर्नहार्ड नोबेल की पुण्यतिथि 10 दिसंवर को दिया जाता है। साहित्य के पहले नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थात, प्रथम नोबेल-रत्न होने का गौरव फ्रांस के कवि सुइली प्रूइदोम को प्राप्त हुआ। सन् 1999 का नोबेल पुरस्कार जर्मनी के प्रख्यात साहित्यकार गुंटर ग्रास को प्रदान किया गया है। यदि यह पुरस्कार हर वर्ष दिया जाता तो 1999 तक नोवेल पुरस्कार विजेताओं की सूची में कम से कम 99 नाम दर्ज हो चुके होते। पुरस्कार के 99 वर्षों के इतिहास में 1914, 1918, 1935 में तथा 1940 से 1943 तक पुरस्कार दिया नहीं गया तथा 1904, 1917, 1966 में तथा 1974 में पुरस्कार दो-दो लेखकों को संयुक्त रूप से दिया गया। परिणामतः 1999 तक कुल 96 लेखक ही नोवेल पुरस्कार जीत पाए।

वहत्तर वर्षीय गुंटर ग्रास नोबेल-रत्न होने का गौरव प्राप्त करने वाले सातवें जर्मन और नौवें जर्मन भाषी रचनाकार हैं। सन् 1902 में पहली बार जर्मन सृजनात्मकता को पुरस्कृत किया गया था। माध्यम बने—मामसन मेथियस थियोडोर। कालांतर में यूकेन रूडोल्फ को 1908 में, पॉलहिजे को 1910 में, गेर्हार्ड जोहान हाफ्थमन को 1912 में, टॉमस मान को 1929 में, हरमन हेस को 1946 में, नेल्ली साक्स को 1966 में तथा हाइनरिख बॉल को 1972 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 27 वर्ष वाद गुंटर ग्रास को 1999 में पुरस्कृत किया गया।

सैन्यवाद और राष्ट्रवाद के अतिवादी आग्रहों के आतंक से घबराकर हरमन हेस ने प्रथम महायुद्ध के दौरान जर्मनी से विदा ली और स्विट्जरलैंड में डेरा जमाया और वाद में वहां की नागरिकता ले ली। लगभग दो दशक बाद उन्हीं का अनुसरण करते हुए नाजीवाद के आतंक से घवराकर, द्वितीय महायुद्ध के दौरान सन् 1940 में नेल्ली साक्स ने जर्मनी से भागकर स्वीडन में शरण ली और अंततः वहीं बस गईं।

एक दिलचस्प तथ्य यह है कि यों तो नोबेल पुरस्कार सृजनात्मक लेखन के लिए ही दिया जाना रहा है, किंतु साहित्य के प्रथम जर्मन नोबेल-रत्न थियोडोर

को 1902 में ऐतिहासिक लेखन के लिए तथा द्वितीय नोबेल-रत्न क्रिस्तोफ़ को 1908 में दार्शनिक लेखन के लिए पुरस्कृत किया गया।

गुंटर ग्रास, वी.एस. नायपाल और ग्राहम ग्रीन के नाम साहित्य के नोबेल पुरस्कार की उम्मीदवारी के लिए कई वर्षों से चर्चा में थे। लंवी प्रतीक्षा के वाद सपना साकार होने से पहले ही ग्राहम ग्रीन स्वर्ग सिधार गए। नायपाल 'क्यू' में अभी भी खड़े हैं। गुंटर ग्रास सौभाग्य से 'ग्रीन' होने की नियति से वच निकले और बीसवीं शताब्दी के खत्म होने से पहले ही उनका सपना साकार हो गया।

तीस सितंबर को पुरस्कार की घोषणा सुनकर ग्रास खुशी से झूम उठे। उन्होंने अपनी खुशी छुपाई भी नहीं और स्वीकार किया कि खबर सुनकर वे बेहद खुश हैं और स्वयं को गौरवान्वित महसूस कर रहे थे। उन्होंने कहा कि खबर सुनकर उन्होंने स्वयं से यह भी पूछा कि उनसे पहले नोबेल पुरस्कार जीतने वाले जर्मन लेखक हाइनरिख बॉल यदि आज जीवित होते तो उनके नाम की घोषणा सुनकर क्या कहते? शायद यही कि स्वीडिश अकादमी का निर्णय सही है।

प्रख्यात जर्मन दार्शनिक मार्टिन वाल्सर ने कहा—'ग्रास को यह पुरस्कार मिलना तय था। हमने इसके लिए काफी लंबे समय तक इंतजार किया।'

पुरस्कार जीतने के एक सप्ताह बाद फ्रेंकफुर्त के अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले में गुंटर ग्रास ने अपने प्रशंसकों को बताया कि पच्चीस साल इंतजार करने के बाद वह निराश हो गए थे और उन्होंने मन ही मन मान लिया था कि उन्हें नोबेल पुरस्कार कभी नहीं मिलेगा। गुंटर ग्रास को नोबेल पुरस्कार दिए जाने की घोषणा से पुरस्कार की विश्वसनीयता वढ़ी है। ग्रास स्वयं को एक ऐसा मानवतावादी लेखक मानते हैं जिसे सभी प्रचलित विचारधाराओं से परहेज है और जो और अधिक करुणामय और प्रगतिशील जर्मनी का निर्माण करने के लिए सन्नद्ध हैं।

स्वीडिश अकादमी ने प्रशस्ति में कहा कि उनकी निराशामय किंतु जिंदादिली से भरपूर आख्यायिकाएं इतिहास के विस्मृत चेहरे को उकेरती हैं। प्रशस्ति में यह भविष्यवाणी भी की गई कि 1959 में प्रकाशित गुंटर ग्रास का उपन्यास—*'द टिन ड्रम'* (टीन का ढोल) की गणना बीसवीं सदी की कालजयी कृतियों में की जाएगी। इस उपन्यास के प्रकाशन से पहले ग्रास जर्मनी में एक युवा कवि और नाटककार के रूप में जाने जाते थे। 'टीन का ढोल' ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिला दी। इस कृति ने पाठकों का ध्यान न सिर्फ गुंटर ग्रास के मर्मस्पर्शी एवं विलक्षण दिल्लगीपन की ओर खींचा बल्कि उसे युद्ध की यंत्रणा और एकीकरण से पहले के पश्चिम जर्मनी की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर भी केंद्रित किया। शीघ्र ही इस उपन्यास को निर्विवाद रूप से जर्मन साहित्य में ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य में इस सदी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में से एक मान लिया गया। संसार के अनेक विख्यात उपन्यासकारों की राय में 'टीन का ढोल' उन गिने-चुने उपन्यासों में से है, जिन्होंने वीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उपन्यास की

संभावनाओं और विशेषताओं की दिशा निर्धारित करके, उसके स्वरूप को बदलने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस उपन्यास के छपने से जर्मन साहित्य ने नए दौर में प्रवेश किया। भाषाई और नैतिक पतन के लंबे दौर के बाद घटने वाली इस नई शुरुआत के लिए जर्मन साहित्य ग्रास का सदैव ऋणी रहेगा।

प्रशस्ति में ग्रास को आख्यायिकाकार, विद्वान व्याख्याता, आवाजों का रिकार्डर और अक्खड़ स्वगतभाषी, विभिन्न कलाओं के घालमेल से व्यंग्य उत्पन्न करने वाला तथा व्यंग्य का एक नितांत निजी मुहावरा गढ़ने वाला रचनाकार आदि विशेषणों से अलंकृत करते हुए कहा गया कि जर्मन भाषा के वाक्य विन्यास में उनकी दक्षता और उसकी जटिल बारीकियों के सही इस्तेमाल करने की उनकी तत्परता, टॉमस मान की याद दिलाती है। उनका लेखन जर्मन संस्कृति से 'अत्यौपचारिक स्नेह से संचालित' संवाद स्थापित करता है। गुंटर ग्रास एक ऐसे अनुभव संपन्न, भावप्रवण एवं कल्पनाशील लेखक हैं जो 'फैक्ट' और 'फिक्शन' के अंतर को बखूबी पहचानते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी यथार्थवादी किंतु अतिकाल्पनिक या अन्योक्तिपरक रचनाओं का ताना-बाना अपने जीवनानुभव के इर्द-गिर्द ही बुना है अर्थात् अपनी कृतियों में उन्होंने अपने जीवन को ही कच्चे माल की तरह इस्तेमाल किया।

गुंटर ग्रास का जन्म सन् 1927 में, 16 अक्टूबर को पूर्वी जर्मनी के बाल्टिक बंदरगाह दांजिग के उपनगर लैंगफुर में हुआ। दांजिग अब पोलैंड का शहर बन चुका है और 'ग्दांस्क' के नाम से जाना जाता है। उनके जर्मन पिता की किराने की दुकान थी। वे छोटे-मोटे अफसर भी थे। उनकी मां स्लाव थीं। उनकी स्कूली शिक्षा दांजिग में हुई। बचपन में ही उन्होंने चित्र बनाने शुरू कर दिए। अपना पहला उपन्यास उन्होंने तेरह वर्ष की उम्र में एक प्रतियोगिता के लिए लिखा। दांजिग पर जर्मन कब्जे के बाद वे पहले 'नाजी युवा आंदोलन' में और बाद में 'हिटलर यूथ' में शामिल हो गए। सोलह वर्ष की उम्र में वे फौज में बुला लिए गए। 1945 में वे युद्ध में घायल हो गए। मेरीनबाद में स्वास्थ्य लाभ के बाद वे अमेरिकी सेनाओं द्वारा पकड़ लिए गए और उन्हें बावेरिया में युद्धबंदी बनाकर रखा गया। अगले कुछ साल उन्होंने पश्चिम जर्मनी के विभिन्न हिस्सों में, खेतों में मजदूरी करके और पोटाश की खानों में काम करके बिताए। फिर उन्होंने अपनी अधूरी पढ़ाई पुनः शुरू करने की कोशिश की लेकिन नाकामयाब रहे और कभी दसवीं पास नहीं कर पाए। पढ़ाई छोड़कर वे डुस्सेलडोर्फ में एक संगतराश के शार्गिद बन गए। वे स्थानीय कंपनियों के लिए कब्रों के पत्थर तराशते थे। 1949 में उन्हें डुस्सेलडोर्फ कला अकादमी में दाखिला मिल गया। दिन में वे चित्र और मूर्तिकला सीखते थे और शाम को जैज संगीत के कार्यक्रमों में 'ड्रम' बजाया करते थे। इटली और फ्रांस की सैर करने के बाद, 1953 में वे पश्चिम जर्मनी में बस गए। पहला साहित्यिक पुरस्कार उन्हें कविताओं के लिए 1955 में मिला। उनके तीन कविता-संग्रह क्रमशः 1956, 1960 और 1961 में प्रकाशित हुए। कविता संग्रहों,

नाटकों और उपन्यासों के अलावा उनके राजनीतिक भाषण भी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। *द टिन ड्रम* (1959), कैट एंड माउस (1961), डॉग इयर्स (1963), लोकल एनेस्थेटिक (1969), द प्लेबियन्स रिहर्स अपराइजिंग (1966), द फ्लाउंडर (1977), डायरी आफ ए स्नेल, वाइड फील्ड, द मीटिंग एट टेलगेट (1979), इन द एग एंड अदर पोयम्स (1977), 'हैडबर्थ्स', 'द जर्मन्स आर डाइंग आउट' (1983), ऑन राइटिंग एंड पालिटिक्स (1967-1983) आदि अनेक पुस्तकों के लेखक गुंटर ग्रास की नवीनतम कृति *माइ सेंचुरी* 1999 में प्रकाशित हुई। इसमें सौ कहानियां संग्रहीत की गई हैं, जिनमें पिछले सौ वर्ष पसरे हुए हैं।

'टीन का ढोल' ग्रास की सर्वश्रेष्ठ कृति है। 1959 में इस उपन्यास के छपने से जर्मनी में तहलका मच गया। जर्मनी में तीस हजार और अमेरिका में पांच लाख प्रतियां तुरंत बिक गईं। अब तक इसकी चालीस लाख प्रतियां बिक चुकी हैं। फिल्म निर्देशक वोल्डर श्लोनडोर्फ ने इस पर 1979 में फिल्म भी बनाई, जिसे ऑस्कर पुरस्कार मिला। इस उपन्यास का मुख्य पात्र ऑस्कर मात्सेराठ एक बच्चा है जो अपने तीसरे जन्मदिन पर यह निर्णय लेता है कि 'बड़ा' न हुआ जाए। विकसित होने से यह इंकार हिटलर के शासन में जर्मनी की नियति का प्रतीक तो था ही, जर्मनी के कलाकारों की असमर्थता को भी रेखांकित करता था। तीन साल का बालक ऑस्कर केवल अपने खिलौने 'ढोल' के माध्यम से ही संप्रेषण करता है और संवाद स्थापित करता है। कथानक का आधार लेखक का अपना बचपन है जो दांजिग में बीता था। उपन्यास में शहर दांजिग की बर्बादी का चित्रण नाजीवादी दौर के बर्बरतम रूप से हमारा साक्षात्कार कराता है। इस उपन्यास में किए गए नाजियों के चित्रण को लेकर भारी हंगामा हुआ। कुछ लोगों ने इस उपन्यास को महान कृति कहा तो कुछ ने इस पर अश्लीलता और अनैतिकता के आरोप भी लगाए।

बाद में अपने दो अन्य उपन्यासों—*कैट एंड माउस* तथा *डाग इयर्स* के जरिए ग्रास ने नाजीवादी दौर की अमानवीयता और क्रूरता के विभिन्न पक्षों को गहरी कलात्मक संवेदना के साथ प्रस्तुत किया। ये तीनों उपन्यास 'दांजिगत्रयी' के नाम से विख्यात हैं। उपन्यास त्रयी में व्याप्त नाजीवाद के उत्कर्ष, युद्ध की त्रासदी और हिटलर के अवसान के बाद पैदा हुआ अपराध बोध पाठक को निरंतर उद्वेलित करता रहता है।

पुरस्कार मिलने के कुछ समय बाद ग्रास ने इस अपराध बोध का जिक्र करते हुए कहा कि माना कि जर्मनी के लिए इस अपराध बोध से मुक्त हो सकना संभव नहीं, किंतु साम्राज्यवादियों और उपनिवेशवादियों ने भी अपने उपनिवेशों के बाशिंदों पर कम अत्याचार नहीं किए और समय आ गया है कि उन्हें अपने कुकृत्यों के लिए शर्मिंदा होना और प्रायश्चित करना चाहिए।

उनका घर बेहलेन्डोर्फ में है मगर दांजिग उनके साहित्यकार का शरण स्थल

है, वैसे ही जैसे जेम्स जॉयस के लिए डबलिन था।

यह आकस्मिक नहीं है कि उनके समूचे लेखन (जिसमें कविताएं भी शामिल हैं) का सर्वोत्तम अंश बच्चों की मनोवृत्तियों पर केंद्रित है, जिसमें उनकी स्वैर कल्पनाओं, निष्कपटता और उनकी दुनिया की क्रूरता, विकृति तथा विसंगतियों का चित्रण हुआ है। वच्चा और वचपन की स्मृतियां उनके लेखन के महत्त्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत भी हैं और मुख्य सरोकार भी। अनेक आलोचक *कैट एंड माउस* को उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। यद्यपि उन्हें जर्मनी का महानतम जीवित रचनाकार माना जाता है फिर भी ऐसा नहीं है कि उनकी प्रत्येक कृति को जर्मन पाठकों और आलोचकों ने सदा सराहा ही हो। पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के एकीकरण की समस्याओं को केंद्र में रखकर लिखे गए उपन्यास *वाइड फील्ड* को आलोचकों ने असफल उपन्यासों के ढेर में फेंक दिया। यही सलूक उन आलोचकों द्वारा समकालीन विषयवस्तु को लेकर लिखी गई कृतियों—*डायरी आफ ए स्नेल* और *द फ्लाउंडर* के साथ भी किया गया जिनके मतानुसार ग्रास अतीत की कहानी कहने में निष्णात हैं मगर वर्तमान की कहानी कहने में वह कठिनाई महसूस करते हैं।

गुंटर ग्रास महान लेखक तो हैं ही, मानवाधिकारों के पक्षधर और प्रवक्ता तथा राजनीतिक कार्यकर्ता भी हैं। 1965 के चुनाव में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार विली ब्रांट के पक्ष में उन्होंने जोरदार अभियान चलाया। विली ब्रांट जव बर्लिन के मेयर थे तव उनके कार्यकाल के दौरान ग्रास ने उनके लिए भाषण भी लिखे। 1990 में उन्होंने एकीकरण का भी विरोध किया था। उनका कहना था कि नजरबंदी शिविरों की भयावहता से कलंकित जर्मनी एकीकरण का नैतिक अधिकार खो चुका है। 1953 में पूर्वी जर्मनी के कामगारों के विद्रोह के दमन को उन्होंने अपनी आंखों से देखा था। क्षुब्ध होकर उन्होंने अपने उपन्यास *द प्लेबियन्स रिहर्स अपराइजिंग* में साम्यवादी व्यवस्था की जमकर आलोचना की।

भारतीय दर्शन और साहित्य से प्रभावित गेटे, शॉपेनहॉवर और मैक्समूलर की तरह हरमन हेस और गुंटर ग्रास ने भी भारतीय संस्कृति को जानने के प्रयत्न किए। हरमन हेस ने भारत से जर्मनी लौटने पर *सिद्धार्थ* नामक उपन्यास लिखा था जो 1922 में प्रकाशित हुआ। गौतम बुद्ध के जीवन पर आधारित यह उपन्यास काफी चर्चित हुआ था और इस पर बाद में इसी नाम से एक फिल्म भी बनी थी।

गुंटर ग्रास दो वार भारत आए। पहली बार अकेले, आठवें दशक के मध्य में। वे कलकत्ता आए थे कविता पाठ के लिए। रवींद्रनाथ की प्रतिभा और बांग्ला संस्कृति का गुणगान करने की बजाय गोष्ठी में उपस्थित बुद्धिजीवियों में उन्होंने पूछा कि जो शहर मन में रोष जगाता है वहां रहकर वे लोग प्रगीतात्मक कविता कैसे लिख लेते हैं। 'आमार सोनार बांग्ला' जैसा कर्णप्रिय गीत गुनगुनाने वालों को जैज संगीत के कार्यक्रम में ड्रम बजाने वाले की कर्कश गूंज पसंद नहीं आई।

खैर, ग्रास जर्मनी लौट गए और ग्यारह साल बाद फिर कलकत्ता में प्रकट

हुए—सपत्नीक। छह मास वे वहां रहे; डायरी भरी, रेखांकन किए और लिखी एक पुस्तक *शो युअर टंग।* पुस्तक के शीर्षक का संबंध विनाश की देवी काली की मुख से बाहर निकली हुई जीभ से है। पौराणिक कथानुसार जब काली को भान हुआ कि वे क्रोध के अतिरेक और रक्त पिपासा के वशीभूत होकर अपने स्वामी शिव का गला काटने चली थीं तो उन्होंने शर्म से जीभ बाहर निकाली। सो, जीभ बाहर निकालना लज्जा का प्रतीक बन गया और काली को सामूहिक लज्जा का प्रतीक मान लिया गया। कलकत्ता की गलियों में पड़े नारियलों को देखकर ग्रास को काली की माला में पिरोई गई खोपड़ियां याद आती हैं। यहां वे भविष्य में होने वाली क्रांति की ओर इशारा करते हैं जिसमें शोपितों द्वारा शोषकों के धड़ों से अलग कर दिए गए सिर, कलकत्ता की गलियों में लुढ़कते हुए दिखाई देंगे।

कलकत्ता के एक उपनगर में उन्होंने एक साधारण मकान में डेरा जमाया। ठसाठस भरी रेलों और बसों में यात्राएं कीं और देखा कि कैसे एक मानव शरीर का पसीना दूसरे मानव शरीर से बहते पसीने में मिलता है? अलबत्ता, कलकत्ता की जमीन के पान की पीक के धब्बों से रंगे व मलमूत्र में लिथड़े टुकड़ों, घाटों पर पड़ी पूर्ण दाहसंस्कार को तरसती गरीबों की अधजली लाशों, खुले में नहाते लोगों की नग्नता, फुटपाथ पर सोने वालों की लाचारगी, रसायनों, कूड़े-कचरे व मलमूत्र की दमघोंटू दुर्गंध से प्रेरित ग्रास की तीखी टिप्पणियां कलकत्ता के बुद्धिजीवियों को पंसद नहीं आईं। उसमें उन्हें यूरोप के दर्प तथा अमीरों की गरीबों के प्रति हिकारत की दृष्टि की झलक दिखाई दी।

दरअसल ग्रास, बतौर लेखक 'जो जी में आए' उसे कह डालने के लिए, एक दरबारी विदूषक द्वारा ली जाने वाली स्वतंत्रता में यकीन रखते हैं। वे शब्दों से, वस्तुओं से, विचारों से खेलते हैं, भले ही वे कितने ही महत्त्वपूर्ण या पवित्र क्यों न हों।

वे कहते भी हैं कि कलाकारों का काम है मनोरंजन करना और यह भी मानते हैं कि कवि एक ऐसा दरबारी विदूषक है जो लिखता भी है। उनका मानना है कि जरूरत पड़ने पर लेखकों को कविताओं, नाटकों या उपन्यासों में उपदेश देने या प्रतिरोध करने के बजाय दलगत राजनीति के क्षुद्र कार्य में जुट जाना चाहिए। इसका अर्थ हुआ एक तरह के समझौते करना और कविता में समझौता चलता नहीं, जबकि हम समझौतों में ही जीते हैं। जीवन में रोजमर्रा के इस तनाव को मूर्ख की मानिंद जो झेल पाता है, वही दुनिया को बदलता है। पिछले चालीस वर्षों से विदूषक और नैतिकतावादी नागरिक, मनोरंजनकर्ता और समाज के आलोचक की दोहरी भूमिकाएं सफलतापूर्वक निभाते हुए, गुंटर ग्रास इस दुनिया को बदलने की निरंतर कोशिश करते चले आ रहे हैं।

कविता की नई दुनिया की खोज

सन् 1992 के नोवेल पुरस्कार विजेता कवि डेरेक वॉल्कॉट का जन्म 23 फरवरी, सन् 1930 में सेंट लूसिया (उत्तरी अमेरिका) में हुआ। एक वर्ष की अवस्था में उनके सिर से पिता का साया उठ गया। शिक्षण और सिलाई के सहारे उनकी मां ने उनका व उनके जुड़वां भाई रॉड्रिक का लालन-पालन किया। वह यूरोपीय नहीं मगर अर्द्धश्वेत हैं। उन्होंने ब्रितानी उपनिवेशवाद के दौर में अपनी जन्मभूमि की दुर्दशा और अपने देशवासियों की तकलीफ को कविता और नाटकों में व्यक्त करने के लिए गोरे प्रभुओं की भाषा अंग्रेजी और स्थानीय बोली का सहारा लिया। उनकी कुछ काव्यपंक्तियों में दोनों का विलयन और संयोजन भी दिखाई पड़ता है। यूरोपीय इतिहास, कला, साहित्य व संस्कृति और काले महाद्वीप अफ्रीका के मूल के, सेंट लूसिया के वहुसंख्यक लोगों की संस्कृति का उन्होंने गहरा अध्ययन किया। 'कविता की नई दुनिया' की खोज के दौरान वह नेरूदा, सिजेयर और पर्सी से प्रभावित हुए। कालांतर में इलियट, पाउण्ड, डिलन टॉमस, ऑडन आदि कवियों ने भी उन्हें प्रभावित किया। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने कविता की दुनिया में पहला कदम रखा। यह विडम्बना ही है कि अपने प्रथम काव्यसंग्रह : 'पच्चीस कविताएं' के प्रकाशन के लिए उन्होंने अपनी विधवा मां की गाढ़ी कमाई के दो सौ अमेरिकी डॉलर खर्च किए। सन् 1949 में यह बड़ी रकम थी। खासकर सेंट लूसिया के एक निम्नवित्त परिवार का भार ढोती एक विधवा के लिए।

निहित संभावनाओं के कारण वॉल्कॉट की पहली काव्यकृति, कैरिबियाई द्वीपसमूह के लेखकों व आलोचकों का ध्यान खींचने में सफल रही। सन् 1962 में प्रकाशित काव्यसंग्रह 'हरी रात में' ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाई। उनकी कविता में सेंट लूसिया की आत्मीय उपस्थिति को महसूस किया जा सकता है। वेस्टइंडीज के जीवन की विशेषताओं की गरिमामंडित अभिव्यक्ति के कारण उनकी कृतियां कैरिबियाई साहित्य की बहुमूल्य धरोहर हैं। ड्रीम ऑन मंकीपांइट (1970) और आत्मकथात्मक कविता-एनअदर लाइफ (1972) की गणना, वेस्टइंडियन साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में की जाती है। कैरिबियाई कविता की जययात्रा के सन्दर्भ में डेरेक वॉल्कॉट की प्रत्येक कृति को मील के पत्थर का दर्जा हासिल है। उनकी कविता, कला और जीवन के अन्तर्सम्बन्धों के अतिरिक्त उन सम्बन्धों की भी व्याख्या करती है जिनमें कालों

और गोरों की परस्पर घृणा पनपती है। 'युवाओं के लिए समाधिलेख' (1949), 'सेलेक्टेड पोयम्स' (1964), 'बहिष्कृत और अन्य कविताएं' (1970), सी ग्रेप्स (1976) उनकी अन्य चर्चित काव्यकृतियां हैं किन्तु नोबेल सम्मान के लिए पृष्ठभूमि तैयार की उनकी काव्यकृति 'ओमेरॉस' ने, जिसके 325 पृष्ठों में वर्णित अपने पूर्वजों के प्रदेश 'अफ्रीका', की यात्रा करते दो मछुआरों के 'होमरिक आख्यान' से आलोचक व कवि काफी प्रभावित हुए।

आठ अक्तूबर 1992 को अपनी घोषणा में स्वीडिश अकादमी ने उनकी प्रशस्ति में कहा कि श्री वॉल्कॉट को नोबेल सम्मान बहुसांस्कृतिक बचनबद्धता से संपोषित काव्यमय दीप्ति के लिए दिया गया है।

कैरिबियाई द्वीप समूह के प्रथम नोबेल पुरस्कार विजेता कवि डेरेक वॉल्कॉट एक सफल नाटककार भी हैं। सन् 1959 में उन्होंने ट्रिनिदाद थिएटर वर्कशॉप की स्थापना की। अब तक वे अनेक नाटकों की रचना कर चुके हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं—हैरी डर्नियर (1951), फ्रैंकलिन (1960), 'इन ए फाइन कासल' (1970) और द जोकर ऑव सेविल (1978)।

यूरोप के लिए वर्ष 1992 ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। 1992 से ठीक पांच सौ वर्ष पूर्व कोलम्बस ने 'नई दुनिया' की खोज की थी। उसकी इस खोज का यूरोप के लिए वही महत्त्व था जो अलीबाबा के लिए 'खुल जा सिमसिम' का। यह बात दीगर है कि अलीबाबा ने चोरों को लूट व मारकर सम्पन्नता हासिल की थी जबकि यूरोप के साम्राज्यवादियों ने समृद्धि की खातिर 'नई दुनिया' अमेरिका के निरपराध वह निरीह मूल निवासियों की हत्या की, उनकी बस्तियों को नेस्तनाबूद किया, उन्हें गुलाम बनाया, खेतों-खदानों में उनसे घोर परिश्रम करवाया और अनाज, खनिजों व रत्नों से खुद को मालामाल किया। उस दौर में कैरिबियाई द्वीपसमूह के मूल निवासियों—अरावाक और कैरिब—को स्पेनी उपनिवेशवाद का जुआ ढोना पड़ा। सच तो यह है कि उपनिवेशवाद के तीन सौ वर्षों के इतिहास में, यूरोप के उपनिवेशवादियों ने तीसरी दुनिया—एशिया, अफ्रीका, लातिनी अमेरिका और कैरिबियाई द्वीप-समूह—के अनेक देशों के अनेक भूखण्डों को कान्सन्ट्रेशन कैम्पों से भी भयावह नारकीय स्थलों मे परिवर्तित किए रखा। सम्भवतः यूरोप सन् 1992 में अपनी भूल का प्रायश्चित करना चाहता था। अतः उस वर्ष स्वीडिश अकादमी द्वारा कैरिबियाई कवि को सम्मानित किए जाने को यूरोप के कलंक को धोने के सद्प्रयास के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

आडूचोर*

इसमें कोई शक नहीं कि अनुवादक दो भाषाओं के बीच, पुल की भूमिका तो अदा करता ही है, दो संस्कृतियों के बीच साक्षात्कार का माध्यम भी बनता है और उसकी इस दोहरी भूमिका के कारण ही कालिदास, होमर, शेक्सपियर, टॉल्सटाय, सर्वेन्तीज़, हेमिंग्वे आदि रचनाकारों की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति संभव हो सकी। हिंदी में अनुवाद के जरिए विदेशी संस्कृतियों की खोज की परम्परा काफी पुरानी है—लगभग सौ वर्षों से भी अधिक; क्योंकि, हिंदी के लेखकों तथा अनुवादकों ने, 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में विदेशी साहित्य को हिन्दी में उल्था करना शुरू कर दिया था। अंग्रेजी हुकूमत और गुलाम मानसिकता के दौर में स्वाभाविक ही था कि अनुवाद के लिए अंग्रेजी भाषा की कृतियों को ही चुना जाता किंतु कालांतर में, धीरे-धीरे हिंदी के रचनाकारों और अनुवादकों के अध्ययन का दायरा विस्तृत होता गया और यूरोप तथा अन्य महाद्वीपों की अन्य भाषाओं की कृतियां हिंदी में उल्थी की जाने लगीं।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी कवि निकोला वप्त्सारोव की कविताओं के छायासंग्रह : "निकोला वप्त्सारोव की कविताएं" के जरिए सन् 1953 में डा. रामविलास शर्मा ने हिंदी जगत का ध्यान, बल्गारियाई साहित्य की ओर खींचा। तब से अब तक लगभग दो दर्जन बल्गारियाई काव्यसंग्रह, कहानीसंग्रह, उपन्यास और नाटक हिंदी में रूपांतरित किए जा चुके हैं। इस प्रकार बल्गारियाई साहित्य से, हिंदी के रचनाकारों व अनुवादकों के साक्षात्कार का सिलसिला जारी है और इसी सिलसिले की नवीनतम कड़ी है—आलोच्य औपन्यासिक कृति : आडूचोर। बल्गारिया के मूर्धन्य कथाशिल्पी एमिलियान स्तानेव का यह प्रसिद्ध उपन्यास, मूल बल्गारियाई भाषा में, सन् 1948 में प्रकाशित हुआ था और इसके प्रकाशित होते ही एमिलियान स्तानेव, साहित्य प्रेमियों की चर्चा के केन्द्र में आ गए थे।

आडूचोर में प्रथम महायुद्ध की पृष्ठभूमि में, कर्नल मिखाइल की पत्नी एलिजाबेथ और सर्बियन युद्धबंदी ईवो ओब्रेतेनोविच की प्रणय कहानी कही गई है। बल्गारिया की तत्कालीन राजधानी तर्नोवो के एक सबर्ब के इतिहास में सिमटी

* आडूचोरः बल्गारियाई भाषा का उपन्यास। लेखकः एमिलियान स्तानेव। अनुवादः विमलेश कांति वर्मा, धीरा वर्मा। प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली। प्रकाशन वर्षः 1994 पृष्ठ संख्या : 69; मूल्य : 30 रुपये।

हुई, सन् 1918 की इस प्रेम कहानी को कर्नल का पड़ोसी स्कूल-टीचर पेत्रोव अपने भूतपूर्व शिष्य कोल्या को सुनाता है, जो अपने पिता के अंगूरों के बाग को बेचने, कई वर्षों बाद तर्नोवो के उसी सबर्ब में लौटकर आता है, जिसे उसने सन् 1918 में, बारह वर्ष की अवस्था में छोड़ दिया था।

'आड़ूचोर' की कहानी दिलचस्प है मगर उसका अंत प्रेमी की हत्या और प्रेमिका की आत्महत्या में होता है इसलिए उपन्यास पढ़ने के बाद एक कचोट-सी, पाठक के मन में रह जाती है। सन् 1918 में कर्नल, तर्नोवो में कमाण्डेंट था। रसद, खाद्य-भंडार व युद्धबंदियों की देखरेख का दायित्व कर्नल पर था। वह रूमानिया के कैदियों को तुच्छ समझता था और सर्बों से घृणा करता था क्योंकि सन् 1913 में तुर्की तथा सर्बिया के विरुद्ध लड़ते हुए घायल होकर वह अपाहिज हो गया था और एक पैर से लंगड़ाने लगा था। पचास वर्षीय तगड़े मगर छोटी गर्दन वाले कर्नल से लोग डरते थे। उसने अपनी सुंदर काटेज व दो एकड़ जमीन में पसरे अपने अंगूरों के बाग की देखरेख के लिए एक अर्दली रखा हुआ था जो बिना किसी बहस के अपने मालिक के आदेशों का पालन करता था। पहले कर्नल तर्नोवो में रहता था किंतु तर्नोवो में भयानक ज्वर 'टाईफस' के प्रकोप से घबराकर वह तर्नोवो के सबर्ब में रहने चला आया। एक किसान स्त्री सुबह का नाश्ता बनाने कर्नल की कॉटेज में आती और दोपहर का खाना बनाकर घर चली जाती थी। उसका नाम था मरिओला। रोज सुबह फिटिन कर्नल को तर्नोवो ले जाती और लंच के लिए घर वापस लाती।

लंच के बाद कर्नल काम पर वापस चला जाता और फिर शाम को सूर्यास्त के समय लौट कर आता। दोपहर को रोज अर्दली पानी लेने जाता था। उसे कहीं दूर जाना पड़ता था क्योंकि आसपास के इलाके में सूखे की वजह से पानी के स्रोत सूख गए थे। सो, यही समय होता था जब कर्नल की पत्नी कॉटेज में अकेली रह जाती। ऐसे थकान और अवसाद भरे लम्बे समय को एलिजाबेथ बरामदे में बैठकर सिलाई करते हुए या कुछ पढ़ते हुए काटा करती। गहरी, नीली, बड़ी-बड़ी आंखों, सुनहरे बालों और सुडौल गोरे हाथों वाली उसकी चालीस वर्षीय देह में ग्रीष्म का थकान-भरा लावण्य था। उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था। वह निस्संतान थी और मोटी लाल गर्दन वाले, बुढ़ा रहे अपने पति से घृणा करती थी।

उधर कर्नल भी परेशान था। युद्धबंदियों को संभालना दुष्कर कार्य था। युद्ध के लगातार बिगड़ते हालातों तथा किसानों और सिपाहियों में असंतोष और विद्रोह के उदय से वह त्रस्त था। लूटमार और चोरी की वारदातें निरंतर बढ़ती जा रही थीं। महामारी, अकाल, युद्ध और लाचारी ने मनुष्य को दुःसाहसी, निर्लज्ज और अनैतिक बना दिया था। रसद की कमी व तर्नोवो में, बल्गारिया के खाद्य-भंडारों से जर्मन सैनिकों व अफसरों को मांस, चर्बी व अंडे देते रहने की विवशता से कर्नल हताश हो चुका था।

एक दिन एलिजाबेथ ने अपने बाग में एक अजनबी को आड़ू चुराते हुए पकड़

लिया। वह सांवला, दुबला-पतला आडूचोर एक सर्बियन युद्धबंदी था। यहां से कहानी में एक मोड़ आता है और वह यह कि एलिजाबेथ उस आडूचोर (ईवो ओब्रेतेनोविच) को दिल दे बैठी। दोनों छुप-छुप कर मिलने लगे और प्यार की भूलभुलैया में खो गए। एक रात कर्नल की अंगूर की दो बेलें चोरी हो गईं। चोरी का पता चलने पर उसने टाउनहाउस से बंदूक लाकर अर्दली को दी और हुक्म दिया कि अगर कोई आदमी अंगूरों के बाग में दिखाई दे तो गोली मार दी जाए। उधर एलिजाबेथ अपने प्रेमी के साथ भागकर एक नई दुनिया बसाने का संकल्प कर चुकी थी।

योजनानुसार सितम्बर की एक चांदनी रात में ईवो अपनी प्रेमिका को लेने आया और हमेशा की तरह सीटी की आवाज से उसने एलिजाबेथ को अपने आने की सूचना दी। प्रत्युत्तर में उसकी प्रेमिका तो नहीं आई मगर एक गोली जरूर चली जिसने ईवो की जान ले ली। अगली सुबह एलिजाबेथ ने कर्नल की पिस्तौल से गोली मारकर आत्महत्या कर ली।

अपने उपन्यास आडूचोर में, उपन्यासकार ने, एक विवाहित स्त्री और एक अविवाहित युद्धबंदी के असफल प्रेम की कहानी के जरिए, विवाह के नाम अनचाहे रिश्ते को ढोने की विवशता को तो उकेरा ही है, पुरुष प्रधान समाज में औरत की नियति की ओर इशारा भी किया है। एमिलियान स्तानेव ने घटनाओं और चरित्रों को बड़े मनोयोग से सिरजा है और एलिजाबेथ की ऊब व घुटन, युद्ध के दुष्प्रभावों तथा प्यार की अनुभूति से एलिजाबेथ के व्यक्तित्व में आए परिवर्तनों का चित्रण कलात्मक और प्रभावशाली ढंग से किया है। उपन्यास की शैली सहज सुबोध एवं लालित्यपूर्ण है। आलोच्य को बल्गारियाई भाषा से हिंदी में उल्था किया है—विमलेश कांति वर्मा और धीरा वर्मा ने। अनुवाद प्रेम और आस्था से किया गया है मगर चूंकि दोनों अनुवादक विशुद्ध अनुवादक हैं, दोनों में से कोई रचनाकार नहीं है, इसलिए 'आडूचोर' की भाषा कहीं-कहीं लड़खड़ाती प्रतीत होती है। दरअसल साहित्य के अनुवाद की सफलता, अनुवादक के स्वयं रचनाकार होने पर भी निर्भर करती है बनिस्बत उसके महज भाषा विज्ञानी होने के इसलिए साहित्य का अनुवाद यथासंभव सृजनात्मक साहित्यकार को ही करना चाहिए। फिर भी अनुवादक-द्वय बधाई के पात्र हैं क्योंकि इन्होंने हिन्दी के पाठकों तक यह कृति पहुंचाई।

जीने के हक का परचम

जर्मन कविता का जिक्र आते ही हमें योहान् वॉल्फगांग फन् गेटे का ख्याल आता है। गेटे की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति जिरह के दायरे में नहीं आती—कालिदास, होमर, शेक्सपियर, दांते की मानिंद। उनके बाद की जर्मन पीढ़ी के कवियों में हाइनरिष हाइने ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। सन् 1856 में हाइने की मृत्यु के बाद, जर्मन काव्यधारा क्षीण होने लगी और 1880 तक अत्यंत क्षीण हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में जर्मन कविता को नया जीवन मिला। इस काल में नई प्रतिभाओं का उदय हुआ। इस काल को कुछ आलोचक जर्मन कविता का 'रिनेसां पीरियड' मानते हैं। बीसवीं सदी के प्रथम महत्त्वपूर्ण दशक में जर्मनी के महान आधुनिक कवि राइनेर मारिया रिल्के का प्रथम महत्त्वपूर्ण काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ। सन् 1910 में पॉल हिजे को तथा 1912 में गेर्हार्ड हाप्थमन को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। *आधुनिक जर्मन कविता-1910-1960* नामक काव्य संग्रह के संपादकों—माइकल हैंबर्गर और क्रिस्टोफर मिडलटन—के मतानुसार दूसरे दशक के प्रारंभ में ही जर्मन कविता ने आधुनिक दौर में प्रवेश किया। कवि ऐरिष फ्रीड का जन्म सन् 1921 में हुआ। उस समय रिल्के अपनी सृजनशीलता के चरमोत्कर्ष के निकट पहुंच रहे थे। वह अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके थे और उनके मानववाद और कारुण्य से दुनिया के अनेक कवि प्रभावित हो चुके थे। सन् 1917 में रूस में बोल्शेविक क्रांति हो चुकी थी। सन् 1921 तक पहला महायुद्ध समाप्त हो चुका था और जर्मनी में नाजीवाद का बीज पनपने लगा था।

दो महायुद्धों के बीच जन्मी ऐरिष फ्रीड की पीढ़ी, युवावस्था तक पहुंचते-पहुंचते दूसरे महायुद्ध की विनाशलीला, नाजीवाद के भयावह अंत और हिरोशिमा तथा नागासाकी की त्रासदी देख चुकी थी। ऐरिष फ्रीड के मन में युद्ध और नाजीवाद के प्रति अपार घृणा थी। नाजीवाद के दौर में यातना शिविरों में उनके पिता और अनेक रिश्तेदारों की मृत्यु हुई और 17 साल की उम्र में उन्हें स्कूल की पढ़ाई छोड़ विस्थापित के रूप में लंदन में शरण लेनी पड़ी। अतः कविता की दुनिया में आकर उन्होंने स्वयं को 'वुजुर्आ निश्चिति' का खंडन करने का साहस दिखाने वाले व प्रतीकवादी काफिर कवि रिल्के के बजाय, बुर्जुआ समाज से घृणा करने वाले

सामाजिक व राजनीतिक प्रतिवद्धता के वामपंथी अभिव्यंजनावादी कवि बेर्टोल्ट ब्रेख्त की काव्य परंपरा से जोड़ा। शुष्क बोलचाल की भाषा वाली लेकिन भावाविष्ट कविता लिखने में सिद्धहस्त ब्रेख्त की तरह, फ्रीड भी अक्सर सपाट भाषा का ही प्रयोग करते हैं और उसे छुरी की धार भी देते हैं। यहां यह कहना जरूरी है कि फ्रीड की तुलना में ब्रेख्त की कविता का लोक ज्यादा बड़ा है और धार ज्यादा पैनी।

यह आकस्मिक नहीं कि आलोच्य संग्रह की कविता 'फांसी' की आरंभिक पंक्तियां—*तीन पेड़ों को कानूनी तौर पर मुजरिम पाया गया/ परदेसियों को अपने पत्तों के नीचे पनाह देने के बतौर*—ब्रेख्त की कविता 'शाश्वतता के लिए' की मशहूर पंक्तियां (*क्या जमाना है/कि पेड़ों के बारे में बातचीत करना भी/करीब-करीब जुर्म हो गया है/ क्योंकि उसमें कई कुकर्मों के बारे में चुप्पी भी शामिल है)* की याद दिलाती हैं। ब्रेख्त की उक्त कविता में 'जुर्म कही जाने वाली बातचीत' पर जर्मनी के प्रमुख अतियथार्थवादी कवि पॉल सेलान ने 'अतिस्पष्टता' का आरोप लगाया—अपनी कविता 'ए लीफ ट्रीलेस' में। सेलान से फ्रीड की अक्सर तुलना की जाती है। दोनों समकालीन थे। तुलना की वजह यह है कि दोनों कवि भाषा के प्रयोग में एक जैसी कठिनाइयां महसूस करते हैं। मगर फ्रीड की कविता की भाषा में सेलान की भाषा की मांत्रिक सिद्धि नहीं है। वे मानते हैं कि कला का काम है समाज के प्रति असंवद्धता या उदासीनता के विरुद्ध लड़ना। वे कविता में भाषा की प्रकृति की तलाश करते हैं, खासकर उन कविताओं में जिनमें उनका प्रतिवाद मुखरित होता है।

कहते हैं कि रिल्के ने जितनी बार अपनी कविताओं में 'समान' या 'सदृश' शब्द का प्रयोग किया है उतनी बार शायद ही किसी अन्य महान कवि ने किया हो। यह इसलिए कि रिल्के की कविताओं में उपमाएं महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभाती हैं। फ्रीड की एक ही कविता में एक ही शब्द कई बार आता है मगर हर बार एक नई परिभाषा के साथ। मसलन 'बीमार' कविता की ये पंक्तियां—*जो उनसे डरने को राजी है/ जो उसे बीमार कहते हैं / और जो उसे बीमार बनाना चाहते हैं/ वह बीमार है।* या 'बीमार-दो' की ये पंक्तियां—*जो खुद को नैतिकता का पोप और प्यार का विधान देने वाला/ जताया करता है/ वह बीमार है पोप की ही तरह।* इसी तरह वे 'पनाह' में 'छिप', 'पीछे', व 'पड़कर' शब्दों को नौ-नौ बार दोहराते हैं मगर एक ही अर्थ में। 'हिंसा' में 'हिंसा', 21 वार, 'दमित' में 'डर' 26 बार आता है, नई-नई परिभाषाओं के साथ। फ्रीड, सेलान की भांति 'खौफ के कवि' नहीं है। किंतु 'दमित', 'खुले बाजार में', 'कोई गाता है', 'समीकरण' आदि कविताओं में वह डर की अनेक आकृतियां उकेरते हैं। नाजीवाद की प्रेतिल छाया से ग्रस्त अपने बचपन को वह कभी भूल नहीं पाए। उन्हें याद आता है वह बच्चा जो गैस चेंबर तक ले जाया जा रहा था—*फिर मुझे सिर्फ वह दिखाई देता है/और मवेशियों की वह गाड़ी/ और वह बच्चा (हू-ब-हू तस्वीर)*। दादी की याद आते ही वह कल्पना करने लगते हैं—*कैसे तूने/अपनी मौत*

का बखान किया होगा/ यातना शिविर में/मुझे पता नहीं (दादी अम्मा)। नाजीवाद के दौर में 'जबान खोलने की आजादी' की 'कीमत' क्या थी, इसका पता हमें चलता है, उनकी कविता 'जबान खोलने की आजादी' से—*क्या-क्या निकलता जाता है/उन जबानों से जो बंद समझी जाती हैं/पहली बात कि चीख/दूसरी बात कि शुरू और/बिल्कुल आखिर में/ शायद मुखालफत तक/ तीसरी बात दांत/और चौथी बात खून/पांचवीं कै.... ।*

फ्रीड जीवट और जिजीविषा के कवि हैं। संग्रह के आरंभ में संकलित अपने निबंध—'मेरी मौत के पहले के आखिरी दौर में...' में वे स्वीकार भी करते हैं—"मुझे जिंदगी से हमेशा प्यार रहा है।....और मरने की मजबूरी से असंतोष भी, भले ही वह आखिरी घड़ी में बेकार हो, जरूरी और एक अच्छी बात है, ताकि आखिरी दम तक जीने के हक के परचम को फहराते रहा जा सके।" वे कुछ भूलना चाहते हैं (भूलने के खिलाफ) यह जानते हुए कि भूलने के अनेक फायदे भी हैं—*और अगर तुम अपनी दो बहनों को भूल सके होते/कब्रगाह का रास्ता कहता है/ और अगर तुम चीखों को भूल चुके होते/दोनों कान कहते हैं/ फिर तुम खतरे में पड़ने का सिलसिला खत्म कर चुके होते* (भूलने का हुक्म)। इस कविता में निर्वासन की पीड़ा भी झलकती है—*फिर तुम कहीं दूर जा सके होते/जहाज की पेटी में पड़े खजूर की तरह/जिसे तोड़ा गया हो और जो अपने पेड़ से आजाद हो/फिर तुम आजाद हो सके होते हवा में उड़ती धूल की तरह/आखिरकार मादरे-वतन से आजाद/जिसे तुम खो चुके हो।*

नाजीवाद के दौर में, जर्मन कवियों की दो पीढ़ियों के कवियों को निर्वासन की पीड़ा झेलनी पड़ी। एक वह जिसने नाजीवाद को जन्म लेते-पनपते और जवान होते देखा, यानी ब्रेख्त की पीढ़ी, और दूसरी वह जो नाजीवाद के दौर में जन्मी, पली और जवान हुई, यानी फ्रीड की पीढ़ी।

ऐरिष फ्रीड संवेदनशील, अनुभवसंपन्न व मानवीय मूल्यों के पक्षधर कवि हैं। अपनी अनेक कविताओं में वह हथियारों की बढ़ती हुई ताकत (अनुजों के वक्त में), युद्ध की विभीषिका (भविष्य), हिंसा के राज (हिंसा), इतिहास की प्रामाणिकता (इतिहास के फरिश्ते), जिंदगी की कीमत (सवाल), सत्ताधारी के दांव-पेच (सत्ताधारी की चिंता), फ़ासिज्म के खतरे (जिंदा बचने वाले)आदि अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दों को उठाते हैं, जिनसे हमें जिंदगी तथा समाज व राजनीति से उसके रिश्तों को समझने में मदद मिलती है। जुल्म और अमानवीयता के खिलाफ आवाज उठाने वाले कवि फ्रीड, अपनी कविता 'सिंहावलोकन' में हमें अपनी आकांक्षा के बारे में बताते हैं—*मैं चाहता था/ अपने वक्त की लपट बनना/या फिर हिस्सा उसकी लपट का.... । मैं चाहता था/अपने वक्त का परचम बनना/या एक/चीथड़ा परचम का।* उनकी कविताओं में भय और हताशा के साथ-साथ जिंदगी की गर्माहट और उम्मीद की चमक भी है—*पर बगावत ले जाती है मौत तक/यानी कि मौत तक/पर बगावत के बिना/हमदर्दी के बिना/प्यार के*

बिना/क्या रह जाती जिंदगी? (खामोशी)। कविता लिखते हुए फ्रीड कविता के जरिए जिंदगी और उसके अंतर्विरोधों को समझना और समझाना चाहते हैं। यही वजह है कि अपनी कविताओं में वे युद्ध, प्यार, जीवन, खेल, हिंसा, डर, अन्याय, कविता यहां तक कि भाषा तक को परिभाषित करते हुए प्रतीत होते हैं–*एक कवि वह होता है/जिसे लफ्ज/किसी हद तक/जोड़कर साबुत बनाते हैं/अगर उसकी किस्मत अच्छी हो/अगर उसकी किस्मत बुरी हो/ तो यही लफ्ज उसे/फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।* संग्रह में कुछ अच्छी प्रेम कविताएं भी हैं।

संग्रह की भूमिका में अनुवादक ने कवि के प्रारंभिक जीवन, उसके सरोकारों, उसकी सोच, कविता एवं भाषा तथा कवितानुवाद के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हुए सारगर्भित टिप्पणियां की हैं। अनुवाद के दो मुख्य रूप माने जाते हैं: (क) शाब्दिक अनुवाद और (ख) मुक्त अनुवाद। आदर्श अनुवाद की स्थिति इन दोनों के बीच में है। फ्रीड की कविताओं के हिंदी रूपांतरों को पढ़कर कहा जा सकता है कि अनुवादक का ध्यान उक्त आदर्श पर केंद्रित रहा है। वह कवितानुवाद को लक्ष्य भाषा में समांतर कविता की रचना का सृजनात्मक दर्जा देने का पक्षधर प्रतीत होता है। भूमिका में वह कहता है–'फ्रीड का आकर्षण मेरे लिए कवि के रूप में है। इसलिए मैं दस्तावेज नहीं बल्कि कविता पेश करना चाहता था।' यह विडंबना ही है कि अनुवादक सन् 1979 से 1990 तक पूर्वी जर्मन अंतर्राष्ट्रीय प्रसारण के हिंदी विभाग का अध्यक्ष रहा है, फिर भी, आलोच्य कविता संग्रह में उसने खोवें, बनावें, मन आवे, समझ भी ले सकता है, लग जा सकता है, खोल धरा था, गुदे को, बोधज्ञान, जैसे अटपटे शब्दों, शब्द-समूहों या वाक्यांशों का इस्तेमाल किया है और व्याकरण की लिंग संबंधी भूलें भी की हैं।

रिल्के पत्रों में

आज हम जिसे आधुनिक काव्यबोध कहते हैं उसे निर्मित करने में जर्मन कवि राइनेर मारिया रिल्के का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सच तो यह है कि विश्व के आधुनिक काव्य पर रिल्के का प्रभाव अमिट है। आज से तीन दशक पूर्व *मॉडर्न यूरोपियन पोयट्री* नामक काव्य संग्रह में आर्थर एस. वेंसिंगर ने रिल्के को पिछले 125 वर्षों का महानतम जर्मन कवि घोषित किया था। उनसे भी छह वर्ष पूर्व धर्मवीर भारती, ज्ञानपीठ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित काव्य संग्रह *देशांतर* में कह चुके थे—रिल्के संभवतः बीसवीं शताब्दी के महानतम यूरोपीय कवि हैं। सन् 1977 में *नया प्रतीक* के जर्मन साहित्य अंक में अज्ञेय ने स्वीकार किया कि अपने जीवन में ही सारे यूरोप में न केवल विख्यात बल्कि इतना अधिक पढ़ा जाने वाला जर्मन कवि कदाचित रिल्के ही है। इन उद्‌गारों में न तो प्रशस्ति का अतिरेक ही है और न कोई अतिशयोक्ति, क्योंकि रिल्के की कविता पाठक को अभिभूत भी करती है और चकित भी। रिल्के की कविता में पाठक को कविता के विराट तत्त्व के दर्शन होते हैं। इसे हिंदी का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि आधुनिक युग के इस अप्रतिम कवि का एक भी कविता संग्रह हिंदी में उपलब्ध नहीं है। संभवतः इसलिए कि रिल्के की कविता की जटिलता, दुरूहता और उसके ध्रुवीय तनावों के कारण अभी तक कोई कवि-अनुवादक उनकी कविता को हिंदी में रूपांतरित करने का साहस नहीं जुटा पाया। यों तो धर्मवीर भारती, अज्ञेय, केदारनाथ सिंह आदि के साथ अन्य कवियों ने भी रिल्के की कुछ कविताओं को हिंदी में उल्था किया है मगर यहां बात छिटपुट प्रयासों की नहीं हो रही। यह स्थिति कब तक बनी रहेगी, कहा नहीं जा सकता फिर भी हिंदी पाठकों को यह जानकर खुशी होनी चाहिए कि अब कम से कम रिल्के के दस पत्रों का एक संग्रह-*पत्र : युवा कवि के नाम* तो हिंदी में उपलब्ध है। इसके लिए उन्हें राजी सेठ का आभार मानना चाहिए जिन्होंने इन पत्रों को अंग्रेजी से हिंदी में उल्था किया है।

आलोच्य पुस्तक में शामिल किए गए पत्रों के विस्मयकारी प्रभाव की चर्चा करते हुए राजी सेठ ने संग्रह की भूमिका में लिखा है—'एक लंबी कहानी पर काफी मनोयोग से काम चल रहा था जब जर्मन कवि रिल्के के 10 पत्रों की यह पुस्तक *(लेटर्स टु ए यंग पोयट)* हाथ लगी। अपना लिखते समय दूसरों की रचनाओं के

प्रति जैसा बैठा-ठाला-सा भाव होता है, कुछ-कुछ उसी तरह की मानसिकता में मैंने इसे उठाया था। तव से अब तक कहानी में लौटने का संयोग नहीं बन पाया और इसका अनुताप भी मन में नहीं है।' उक्त मानसिकता में रचनात्मक उत्साह के जागने की उक्त प्रक्रिया पर धर्मवीर भारती ने *देशांतर* की भूमिका में अत्यंत सारगार्भित टिप्पणी की है। उनका कहना है कि जब कभी दो सांस्कृतिक धाराओं में परस्पर सम्मिलन हुआ है, अनुवाद बराबर आदान-प्रदान का एक उपयोगी माध्यम रहा है। लेकिन आधुनिक संदर्भ में गुरु-शिष्य परंपरा के अभाव में नए कवि के लिए काव्य का अनुवाद एक दूसरा महत्त्व भी रखता है। प्रत्येक नए कवि को, चाहे वह स्वीकार करे या न करे, निर्देश, अनुशासन और अभ्यास की आवश्यकता होती है और समय-समय पर वह उसे महसूस भी करता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पूर्ववर्ती कवियों में से अपनी प्रकृति के अनुकूल कवियों को चुनकर उनके काव्य का अवगाहन करता है, उनके अनुवाद का अभ्यास करता है और इस तरह अपनी अभिव्यक्ति को समृद्ध बनाता है। यह उसी की रचना-प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। कभी-कभी इस खोज के लिए कवि देश-देशांतर के काव्य की ओर निगाह दौड़ाता है। आधुनिक प्रकृति के अनुसार उसकी यह खोज एक सफल और समानधर्मी की खोज होती है। वह समानधर्मी कृतित्व खोजता है। जब कहीं किसी दूसरी भाषा में भी इस तरह के किसी कृतित्व की उपलब्धि नए कवि को होती है तो उसका सहज उत्साह उस कृतित्व को अपनी भाषा में पुनः प्रस्तुत करना चाहता है। उसको सहसा यह लगता है कि 'अरे सचमुच बिल्कुल यही तो वह कहना चाहता था पर कहने का इतना सटीक ढंग उसे नहीं आ पा रहा था और वह काव्यकृति स्वयं उसमें एक रचनात्मक उत्साह जगा देती है और अनुवाद उसी का परिणाम होता है।'

धर्मवीर भारती ने उक्त विश्लेषण काव्यानुवाद के संदर्भ में किया है मगर यह साहित्यिक गद्यानुवाद पर भी उतना ही लागू होता है जितना कि काव्यानुवाद पर।

रिल्के के इन पत्रों को पढ़ते हुए फ्रैंज काफ्का के मिलेना और फेलिस के नाम लिखे गए पत्रों की याद आती है। इसका कारण है कि काफ्का का दृष्टिकोण भी उतना ही निर्भीक, पारदर्शी और ईमानदार है जितना कि रिल्के का। दोनों में समानताएं भी अनेक हैं। मसलन दोनों का जन्म उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में हुआ। दोनों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए जर्मन भाषा को चुना। दोनों ने महानता अर्जित की। एक ने कवि के रूप में तो दूसरे ने कथाशिल्पी के रूप में। दोनों दीर्घजीवी होने का वरदान लेकर नहीं जन्मे। रिल्के का देहांत 51 वर्ष की अवस्था में ल्यूकीमिया (अधिश्वेतरक्तता) से हुआ तो काफ्का का निधन 41 वर्ष की उम्र में तपेदिक के कारण हुआ।

रिल्के के इन पत्रों को पढ़कर पत्र-साहित्य का महत्त्व समझ में आता है

और ख्याल आता है कि हिंदी में काव्य-संग्रहों, कहानी-संग्रहों और उपन्यासों की तुलना में साहित्यिक पत्रों के संकलनों की संख्या लगभग नगण्य ही है। यह ख्याल आते ही सवाल उठता है कि हिंदी के रचनाकार, सचेष्ट कलात्मकता से मुक्त, साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण विधा से परहेज क्यों करते हैं? क्या इसलिए कि उनमें दृष्टिकोण की निर्भीकता, ईमानदारी और पारदर्शिता की कमी है? और तो और विदेशी साहित्यिक कृतियों को हिंदी में उल्था करने वाले रचनाकारों ने भी इस विधा में लगभग न के बराबर ही दिलचस्पी ली है—बावजूद इसके कि पश्चिम में पत्र-साहित्य की एक समृद्ध और उन्नत परंपरा है और इसलिए अनुवाद के लिए अंग्रेजी में पत्र-साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। खैर, फिलहाल यह जाना जाए कि अपने इन पत्रों में रिल्के ने ऐसा क्या कहा कि जिसे सुनकर राजी सेठ को लगा कि अरे सचमुच बिल्कुल यही वह भी कहना चाहती थीं या काश कि यह उन्होंने कहा होता। मगर इससे पहले कि हम रिल्के के पत्रों को खोलें, यह जानना जरूरी है कि ये पत्र किसको लिखे गए और क्यों व कब लिखे गए।

ये दसों पत्र मिलिटरी अकादमी (जहां स्वयं रिल्के की दीक्षा हुई थी) में दीक्षारत एक युवक फ्रेंज जेवियर काप्पुस को लिखे गए जो कवि बनना चाहता था और अपनी कविताओं पर रिल्के की राय चाहता था। ये सभी पत्र 17 फरवरी, 1903 से 26 दिसंबर, 1908 के बीच के हैं। लगभग छह वर्ष की इस कालावधि में रिल्के फ्रांस, इटली और स्वीडन में प्रवास के दौरान या यात्राओं के बीच पत्रों के जरिए काप्पुस की जिज्ञासाओं के उत्तर देते रहे—कभी-कभी लंबे अंतराल को लांघते हुए। सन् 1903 में उन्होंने छह पत्र लिखे, 1904 में तीन और फिर चार साल के दीर्घ अंतराल के बाद अंतिम यानी कि दसवां पत्र लिखा। जब पहला पत्र लिखा गया उनकी उम्र 27 वर्ष की थी और काप्पुस की 22 वर्ष। 1903 से 1908 तक की कालावधि रिल्के के जीवन में अत्यंत महत्त्व रखती है।

रिल्के ने शुरू-शुरू में कविता लिखने में, महान जर्मन कवि हाइनरिष हाइने का अनुकरण किया। सन् 1902 में उनका काव्य संग्रह—*द बुक आफ इमिजेज* प्रकाशित हुआ जिसमें सन् 1898 से 1901 के बीच लिखी गई नव स्वच्छंदतावादी कविताएं संग्रहीत की गई थीं। एक मास बाद वे पेरिस आए जहां फ्रांसीसी मूर्तिकार रोदां के सहवास, फ्रांसीसी वस्तुनिष्ठता व शिल्प और बादलेयर के प्रभाव के कारण उनकी कविता को रोमानी भावुकता से मुक्ति मिली। कविता और कवि के बारे में उनका दृष्टिकोण बदलने लगा। 1905 में उनका महत्त्वपूर्ण काव्य संग्रह *द बुक आफ आवर्स* प्रकाशित हुआ। पेरिस आने से पहले वे कविता लिखने के लिए किसी विशेष सृजनात्मक क्षण या उस काव्यात्मक मनोदशा की प्रतीक्षा करते थे जिसमें वे महसूस करते कि वे काव्यात्मक विषयों पर कविताएं लिख सकते हैं, मगर पेरिस में आने के बाद उन्हें यह प्रतीक्षा बेमानी लगने लगी। वे सोचने लगे कि क्या कविता लिखने की प्रेरणा की प्रतीक्षा किए बगैर, कविता लिखने में वे उसी प्रकार

जुट सकते हैं जिस प्रकार किसी माडल को अपने सामने बैठाकर एक चित्रकार चित्र वनाने या एक मूर्तिकार मूर्ति गढ़ने लग जाता है।

रोदां की सलाह पर वे चिड़ियाघर में गए और एक तेंदुए को तब तक देखते रहे जव तक उनमें एक कविता ने जन्म नहीं ले लिया। यह कविता पैंथर शीर्षक से विख्यात हुई। इस प्रकार की नई कविताओं के संग्रह *नई कविताएं* का पहला भाग सन् 1907 में तथा दूसरा 1908 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कविताओं में एक विस्मयकारी संतुलन है—वस्तुनिष्ठता और व्यक्तिनिष्ठता में, आंतरिक अवस्था और वाह्यता में, फ्रांसीसी प्रांजलता व लालित्य तथा जर्मन गहनता में। पेरिस में आया रिल्के की कविता में यह बदलाव, अंततः रिल्के की कविता के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अब वे वस्तु की 'वस्तुता' को पहचानने लगे थे और बकौल अज्ञेय, उनकी रचनाओं में एक समर्थ तटस्थता आ गई थी जिसमें चीजें, चीजें होकर सामने आने लगी थीं। उनकी इन नए ढंग की वस्तुनिष्ठ कविताओं को 'वस्तुकाव्य' कहा जाता है।

ये नई कविताएं *द बुक आव इमिजेज* और *द बुक आव आवर्स* की कविताओं से नितांत भिन्न किस्म की थीं। जाहिर है, उक्त दो काव्य संग्रहों की कविताओं से, नई कविताओं तक की काव्ययात्रा में रिल्के को अनुभव की समझ व अभिव्यक्ति के अनेक संकटों से गुजरना पड़ा होगा। संयोग से इसी दौर में एक युवा कवि ने उनसे कविता पर पत्रों के माध्यम से बातचीत करनी शुरू कर दी। रिल्के को काप्पुस में अपना ही कवि दिखाई दिया क्योंकि सन् 1903 और 1908 के बीच दोनो, रिल्के और काप्पुस अपने-अपने स्तर पर अनुभव की समझ और अभिव्यक्ति के संकटों से गुजर रहे थे। रिल्के अपनी काव्ययात्रा के दूसरे दौर में प्रवेश कर रहे थे जब कि काप्पुस ने अपनी काव्य यात्रा शुरू ही की थी। यही वजह है कि रिल्के, काप्पुस की जिज्ञासाओं में संभवतः अपनी समस्याओं के हल खोज रहे थे। शायद इसीलिए उनके पत्रों में स्वगत कथन या एकालाप का आभास होता है—काफ्का और नवोदित जिज्ञासु लेखक गुस्ताव यानोख की बातचीत की तरह, जिसमें अक्सर यह लगता है कि यानोख, काफ्का को कुरेदते भर हैं और उसके बाद की सारी बातचीत काफ्का के स्वगत कथन जैसा रूप धर लेती है। इस संदर्भ में पहले और आठवें पत्र (ये दोनों पत्र संग्रह के सर्वश्रेष्ठ पत्र हैं) की अंतिम पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—'तुम्हारे दिए विश्वास और तुम्हारे प्रश्नों का आभारी हूं जिनके दबाव में अपने को ईमानदारी से खखोलते मैंने अपने भीतर के पराएपन को ज्यादा आत्मीय और अपने को उन्नत बनाया है।' (पृ.7) और 'यह मत समझो कि जो व्यक्ति तुम्हें सांत्वना दे रहा है, या सादे शब्दों में कहूं कि तुम्हारे लिए सुख की सृष्टि कर रहा है, वह पीड़ाओं से मुक्त है। उसका जीवन भी इतने ही दुखों और अवसादों से भरा है और तुमसे कहीं पीछे है। यदि ऐसा न होता तो वह इन शब्दों को कभी तलाश न पाता।' (पृ. 59)

यह आकस्मिक नहीं है कि अपने पत्रों में रचना, रचनाकर्म, समीक्षा, एकांत, निस्संगता, बचपन, प्रेम, स्त्री, उदासी, अवसाद, महान डेनिश कवि येंस पीटर याकोब्सन की पुस्तकों, कायरता, अज्ञान के भय, प्रकृति, यौनसंबंधों, शारीरिकता, संग्रहालयों की निरर्थकता पर बात करते हुए, रिल्के अपने विचारों की दुनिया में हमें इतनी दूर ले जाते हैं कि वहां पहुंचकर हमें लगता है कि हमारे व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है। हम पहले से ज्यादा अनुभव संपन्न हो गए हैं। सच तो यह है कि पहले पत्र से ही रिल्के हमें अपने चिंतन से सम्मोहित और अंदाजे-बयां से चकित करने लगते हैं। आठवें पत्र तक आते-जाते जीवन और जगत में उनकी पैठ हमें चमत्कृत करने लगती है और मिलने लगते हैं हमें उनसे सृजन के तत्त्व संबंधी महानतम सूत्र, जैसे कभी स्वयं उन्हें मिले थे। पाने लगते हैं उनसे हम सृजन की अगाधता और असीमितता, जैसी उन्होंने स्वयं पाई थी--याकोब्सन एवं रोदां से। अंतिम पत्र तक पहुंचते-पहुंचते विराट को पाने, असीम को छूने व अदृश्य को महसूस करने की ललक हममें जन्म लेने लगती है और हमारे मुंह से बरबस ही निकल पड़ता है--'कला में होना भी जीने का एक ढंग है।' (पृ. 65)

रही अनुवाद की बात तो इस संदर्भ में राजी सेठ ने भूमिका में उन छोटी-मोटी छूटों का उल्लेख किया है जो अनुवाद में उन्होंने ली हैं। ये छूटें नए पैराग्राफ बनाने या वाक्य संरचना में परिवर्तनों से संबद्ध हैं। रिल्के के आशय को पाठक तक पहुंचाने में वह अपेक्षित हद तक सफल हुई हैं किंतु जो रचनाकार अनुभव की अकथनीयता की बात करता हो और मानता हो कि वे (अनुभव) एक ऐसे 'स्पेस' में घटते हैं जहां शब्द का प्रवेश ही नहीं है (पृ.1) मगर इसके बावजूद अनुभव की अकथनीयता को भी अभिव्यक्त कर सकने में समर्थ भाषा को खोजने में सफल हुआ हो, उसकी कृति को उल्था करने में हम उसी सीमा तक तो सफल हो सकते हैं जिस सीमा तक हम उसके अनुभवों की अकथनीयता को महसूस कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रिल्के के पत्रों के अनुवाद में हमारी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम उनके साथ उनके विचारों की दुनिया में कितनी दूर तक जा सकते हैं। पत्रों में रिल्के जहां पहुंचे हुए हैं, उस स्थल और उस स्थल में जहां ये पत्र पढ़कर हम तक पहुंचते हैं, अक्सर एक गैप रह जाता है, एक दूरी छूट जाती है जिसका आभास कहीं-कहीं राजी सेठ के अनुवाद में भी होता है। यह बात उपनिषदों के हिंदी अनुवादों पर भी लागू होती है जिन्हें पढ़कर हमें लगता है कि कहीं कुछ छूट गया है। इस कहीं कुछ छूटने का उसी 'गैप' या 'दूरी' से सीधा संबंध है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। जहां तक आलोच्य की 'उपयोगिता' का प्रश्न है, वह जिरह के दायरे में नहीं आती, क्योंकि रिल्के के दस पत्रों की इस छोटी-सी किताब को लेखकों व पाठकों को अवश्य पढ़ना चाहिए। युवा लेखकों के लिए तो यह पाठ्य पुस्तिका का दर्जा रखती है।

कविता का पुनर्जन्म

गुलामी के बर्फीले मेघपुँज को चीरकर, 1947 में, अगस्त के पन्द्रहवें दिन, आजादी का शिशु-सूर्य चोंच में दबाए, क्षत-विक्षत पंखों वाला जो जुझारू झंझा-पक्षी लाल किले की प्राचीर पर उतरा था, उसकी आँखों की चमक में आम आदमी को बेहतर जिंदगी और किशोर पीढ़ी को उजले भविष्य का सपना दिखाई दिया था। बदकिस्मती से जब तक यह किशोर पीढ़ी जवान हुई, झंझा-पक्षी की आँखों की चमक बुझ चुकी थी और उसकी चोंच में दबा सूरज ठंडा पड़ चुका था। सातवें दशक के आरम्भ में.यह बदहवास युवा पीढ़ी मोहभंग के दौर से गुजर रही थी और इस पीढ़ी के कवि इसकी त्रासदी की अभिव्यक्ति की तलाश कर रहे थे। और इसका सपना? 1960 की इस युवापीढ़ी का सपना आज बीस वर्ष बाद भी उसके पैरों के नजदीक घायल पड़ा कराह राह है : *"और तभी चीत्कार करता एक स्वप्न/मेरे पैरों के पास घायल पड़ा था।" (अज्ञात की खोजः डूबते इतिहास का गवाहः 1980 : जगदीश चतुर्वेदी)।* अणुयुद्ध की विभीषिका और आशंका, पूँजीवादी-तंत्र-संस्कृति की क्रूर संवंधहीनता और भीड़ के एकाकीपन, पुराने मूल्यों की निरर्थकता और नए मूल्यों की अनुपस्थिति के तनाव और सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों, धनलोलुप पूंजीपतियों और चाटुकार नौकरशाहों के संगठित मानव-विरोधी अभियान के आतंक की आदमखोर गिरफ्त में छटपटाना आम आदमी की नियति बन चुकी थी। बहुस्तरीय और बहुआयामी मोहभंग के इस निर्मम दौर से गुजरने वाली पीढ़ी के खौफनाक अनुभव की आक्रामक अभिव्यक्ति की संवाहक कविता को 'अकविता' की संज्ञा दी गई—"किसी के प्रति मोह की स्थिति उसे घातक लगती है। अकविता और उसका कवि मोहभंग की कविता का प्रणेता है। कदाचित् विश्व में पहली बार इस मोहभंग की कविता को उसने अकविता (एंटी पोइट्री) नाम दिया है" (अकविता : निषेध काव्य या अनिवार्य काव्य परिणति? : दस्तावेज : जगदीश चतुर्वेदी)।

अकविता ने सातवें दशक में हिन्दी कविता के संसार में विवादास्पद मगर निर्णायक भूमिका अदा की। सातवें दशक के अंत तक जगदीश चतुर्वेदी अकविता के पर्याय और अकविता आंदोलन के प्रतीक बन चुके थे। उनका दूसरा कविता संग्रह : *"डूबते इतिहास का गवाह"*, उनके पहले कविता संग्रह : *"इतिहासहंता"* के प्रकाशन के ठीक दस वर्ष बाद 1980 में प्रकाशित हुआ। आठवें दशक के दौरान

हिन्दी की कविता, अकविता की सीमाओं को लांघकर अन्तर्राष्ट्रीय वौद्धिक कविता की मुख्यधारा से जुड़ चुकी थी। इसलिए, डूबते इतिहास के गवाह के वयान की जांच पड़ताल अकविता की उपलब्धि-कृतियों : मोहभंग के आघात को न झेलपाने के कारण ''डिलीरियम'' के शिकार राजकमल चौधरी के दीर्घप्रलाप *''मुक्ति प्रसंग''*, मोहभंग के चश्मे से जिंदगी का एब्सर्ड नाटक देखते हुए सोमित्र मोहन की दीर्घकालिक बड़बड़ाहट : *''लुकमान अली''* और मोहभंग के शिकार जगदीश चतुर्वेदी की निष्क्रियता, घृणा, काम विकृतियों और ध्वंस कामना की स्वाभाविक काव्य परिणति *''इतिहासहंता'* के संदर्भों में ही नहीं बल्कि राजनीतिक समझ, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और गहरी जीवन दृष्टि से सम्पृक्त मुक्तिबोध के कविता संग्रह' *''चाँद का मुंह टेढ़ा है''* और शब्द को बुलेट की तरह इस्तेमाल करने वाले समर्थ कवि धूमिल के कविता संग्रह *''संसद से सड़क तक''* के संदर्भ में भी की जानी चाहिए।

एक दशक में अपनी कविता में आए बदलाव और वैविध्य की ओर कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले अपने पाठकों (अपने पाठकों के संबंध में : दस्तावेज) का ध्यान खींचने के लिए ही, सम्भवतः *''डूबते इतिहास का गवाह''* की कविताएँ चार खंड़ों में चार खंड-शीर्षकों के तहत संकलित की गईं—(1) *''एक न खत्म होने वाली लड़ाई''* (2) *''कविता इसी खूनी रास्ते से आती है''* (3) *''शान्ति और प्रेम का अर्थ''* (4) *फूलों से खेलते हुए।''* यों बुनियादी तौर पर इस संग्रह को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—एक हिस्सा वो, जो *''इतिहासहंता''* के ''एक्सटेंशन'' के रूप में अपनी पहचान बनाता है क्योंकि इसमें उसका चेहरा दिखाई देता है और दूसरा वो, जिसमें मोहभंग के बाद नार्मल हो चुके जगदीश चतुर्वेदी, अकविता के निषेध और नकार से झुलसी अपनी जमीन में सूरजमुखी रोपते दिखाई देते हैं। दरअसल विवेच्य संग्रह की अधिसंख्य कविताएँ मोहभंग की यातना झेलते हुए व्यक्ति की उस असामान्य मनःस्थिति को उकेरती हैं जिसकी घृणा एवं विकृतिमूलक प्रतिक्रिया की विशिष्टता ने जगदीश चतुर्वेदी को विवादास्पद मगर महत्त्वपूर्ण रचनाकार और *''इतिहासहंता''* को ऐतिहासिक दस्तावेज का दर्जा दिलाया। यही नहीं, *''इतिहासहंता''* की तीन कविताएँ—(1) *''उद्‌गीर्ण''*, (2) *''समकालीन आलोचकों के नाम''* और (3) *''शिशु का जन्म''* ''डूबते इतिहास का गवाह'' में दोहराकर कवि मानो निम्नांकित घोषणाएँ करना चाहता है—(1) वोरियत की जोंक अब भी उसका खून चूस रही है, (2) समकालीन आलोचना अव भी उसके लिए निरर्थक है और (3) ध्वंस-कामना के समानान्तर, उसके मन में निर्माण की इच्छा भी पलती है। यही वजह है कि जगदीश चतुर्वेदी के चिरपरिचित भयावह एवं वीभत्स कविता-संसार के जाने पहचाने पशु-पक्षी भेड़िया, साँप, बिच्छू, चूहा, पिस्सू, शेर, मगरमच्छ, कबूतर, जोंक, गिद्ध, शुतुरमुर्ग आदि तथा भूत और गौरिल्ला आदि अशरीरी आत्माएँ तथा पशुमानव अपने जाने-पहचाने प्रतीकार्थों के साथ, इस संग्रह में भी उपस्थित हैं। वस्तुतः आलोच्य के पहले खंड (कवि के विभाजन को नकारते हुए) में मकाराकृति

वाले इतिहासहंता का जो चेहरा उभरता है उसकी आँखें एक उलूक पोंछ चुका है। दफन होती संस्कृतियों/मरते/शवगृहों में बदलते नगरों/झड़ते हुए सदाबहार दरख्तों, झड़ती ऋतुओं/रिसती पहाड़ियों/अर्राती घाटियों और उम्र के साथ कम होते सिर के बालों का यह नेत्रहीन मगर, कवि की तीसरी आँख से देखने में समर्थ डरावना ''चश्मदीद'' गवाह, या तो मृत्यु की कामना करता है– *''मुझे ढकेल दो उस नंगे काले पहाड़ से............मैं नीचे खड्ढ में टूटती अपनी बोटियों पर/उगा लूंगा एक नया पहाड़ और करूँगा मृत्यु का इन्तजार'' (संशय के मध्य एक प्रतीक्षा), या फिर ध्वंस की कामना ''मैं रहूँगा मौन और निस्पंद/नहीं करूँगा युद्ध/नहीं खींचूंगा तरकस ..../एक शून्य में जीता हुआ/कर रहा हूँ महानाश की प्रतीक्षा'' (एक लँगड़े आदमी का बयान), ''एक प्रलय कांड में होना चाहता हूं लिप्त'' (बर्बर वंशजों के नाम) और ''गलियों में मरे चूहे फेंक दूंगा ताकि फैले प्लेग और महामारी/नदियों में डाल दूँगा बुखार के कीड़े।''* (विघटन)।

देश के पिंजड़े में गिलबिलाते हुए असंख्य पिस्सुओं और कीड़ों भरी खाई, शहर के खम्भों पर वमन के गन्दे निशान छोड़ती मकड़ी, जहर उगलती शताब्दियों, केंचुओं के पंजों में फँसे रिरियाते लोगों के मुँह से चुआते मवाद का यह अतीताक्रांत, एकाकी और अभिशप्त गवाह, जिन्दगी की निरर्थकता और मृत्युबोध से त्रस्त है और अनिश्चय की गुहा में निष्क्रिय पड़ा सड़ रहा है। कभी-कभी जब इस निठल्ले और उदास व्यक्ति में घृणा जागती है तो वह हिंस्र हो उठता है। तैरते युग्मों को देखकर उसके मन में हत्या की इच्छा पनपती है। पैशाचिक विकृतियों और जटिल विसंगतियों के दौर में, मोहभंग के साक्षात्कार से ध्वस्त व्यक्ति की हताशा के प्रतिशोध में बदलने की क्रूर नियति और मृत्यु कामना से ध्वंस-कामना अथवा हत्या की इच्छा तक तय की गई नारकीय घृणा यात्रा को जोखिमभरी भयावह कविता यात्रा में बदलने के लिए, जगदीश चतुर्वेदी ने जिस हिंस्र भाषा की ईजाद *'इतिहासहंता'* में की, उसका खूंख्वार चेहरा विवेच्य कृति के इस खंड में भी प्रतिविंबित होता तो है मगर उसकी आंखें उतनी लाल नहीं दिखाई देतीं जितनी वे 1970 में थीं। पाठक को वहा ले जाने में समर्थ, *'इतिहासहंता'* की कविता की लयात्मक ऊर्जस्विता की प्रतीति भी इस खंड की कविताएँ आंशिक तौर पर ही करा पाती हैं। नयी कविता के ''लिरिकल'' संस्कारों और शालीनता, औपचारिकता एवं आभिजात्य की पोषक भापा के स्त्रैण स्वभाव से, हिन्दी कविता को मुक्ति दिलाने में 'अकविता' ने निर्णायक भूमिका अदा की। प्रेम, भक्ति और अध्यात्म के रास्ते पर चलने वाले कवियों और स्तुति एवं चापलूसी से जीविका कमाने वाले चारणों के इस देश में शृंगार और समर्पण की अभिव्यक्ति की तलाश में तल्लीन भापा के स्त्रैण स्वभाव को बदलने की पहल कबीर ने की थी। सामाजिक और साहित्यिक जड़ता को तोड़ने में समर्थ कबीर की अनगढ़ मगर बीहड़ भाषा ने काव्य भाषा की दुनिया में जिस मूर्तिभंजक परम्परा की शुरुआत की थी, उसके संदर्भ में भूपण (रसनिष्पत्ति के नाट्यशास्त्रीय

आग्रहों से ही सही), निराला, दिनकर, मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी, जगदीश, चतुर्वेदी और धूमिल के योगदान के महत्त्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। *''इतिहासहंता''* से *''डूबते इतिहास का गवाह''* की अभिव्यक्ति तक पहुँचते-पहुँचते, आक्रामकता और लयात्मक ऊर्जस्विता की जो क्षति चतुर्वेदी की कविता झेलती है उसके निम्नांकित कारण समझ में आते हैं–(1) कवि की विकृति और घृणामूलक हिंसा में असाधारण कमी तो आई ही है, वह उसे ''रचनात्मक'' हिंसा में बदलकर अकविता की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ, अपने कविता संसार का विस्तार करता हुआ भी दिखाई देता है–**'मिटाना चाहता हूँ जंगल/जंगलों के बर्बर वंशज और उनकी 'आगामी वसीयत को!' (बर्बर वंशजों के नाम)** और (2) **आलोच्य कृति में काम विकृतियाँ लगभग अनुपस्थित हैं;** जबकि **'इतिहासहंता'** की भाषा की आक्रामकता की धार को तेज करने में काम विकृतियों की इन्द्रियार्थवादी और सादवादी अभिव्यक्ति का जबर्दस्त योगदान रहा है? यह आकस्मिक नहीं कि जगदीश चतुर्वेदी तिलमिलाने वाले यौन सम्बन्धों को बड़े सृजन का माध्यम समझते हैं **(यौन क्रांति और साहित्यः दस्तावेज)** (3) विवेच्य की कुछ कविताएँ हमें ये सूचना भी देती हैं कि नई जमीन तोड़ने की कोशिश कर कवि अपने संसार की कतई नई पहचान बनाना चाहता है और अकविता की दुनिया छोड़कर ''आज की कविता'' की दुनिया की ओर आने के द्योतक संक्राति काल में कविता की भाषा में बदलाव आना स्वाभाविक है।

दूसरे खण्ड में वे कविताएँ रखी जा सकती हैं जिनमें मोहभंग के झटके झेल चुकने के बाद नॉर्मल (और परिपक्व और जागरूक भी) हो चुके व्यक्ति का अनुभव व्यक्त हुआ है। मनोविक्षिप्त के अंधेरे से बाहर निकलते ही उसे सुबह का वो संगीत सुनाई देने लगता है जिसे सुनने को वह पिछले कुछ वर्षों (मोहभंग से सम्बद्ध) से तरसता रहा है। संगीत की दुनिया उसे प्रेतिल स्मृति, जंगली तनावों और जिस्मानी मनहूसियत से ही मुक्त नहीं करती बल्कि रागात्मकता यानी कि जिन्दगी के उत्स से भी जोड़ती है। परिणामतः वह युवा मृत्यु पर मर्सिया पढ़ता दरवाजे पर ''न्यू ब्रेव वर्ल्ड'' के प्रतीक शिशु की नन्ही हथेलियों की थाप सुनता दिखाई देता है। जिन्दगी से उसका यह जुड़ाव उसे घृणा से शर्तहीन प्यार की अनुभूति, मृत्युबोध से अस्तित्वबोध और फिर ईश्वर के अहसास तक ले जाता है। सम्बन्धहीनता, आशंका, आतंक, हताशा और व्यभिचार की दुनिया में जिन्दगी का अर्थ खोजते हुए इस व्यक्ति के सरोकार, बर्बरता के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत, एक अंतहीन लड़ाई लड़ने की प्रतिबद्धता और मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा से जुड़ जाते हैं–**'किसी की गर्दन को सीधा तना देखने के लिए पिछले कई वर्षों से तरस रहा हूँ ... मात्र चुप्पी है। (डूबते इतिहास का गवाह)** जीवन के अर्थ की यह खोज अक्सर व्यक्ति को ध्रुवीय तनावों से साक्षात्कार का अवसर देती हैं। यूरोप में ऐसे साक्षात्कार की परम्परा रही है। रिल्के, बॉदलेयर, इलियट आदि प्रख्यात

कवियों ने भूत और वर्तमान, अनश्वरता और क्षणभंगुरता, सुरक्षा और अरक्षितता, मुक्ति और अस्वीकार से सम्बद्ध ध्रुवीय तनावों से जूझकर जो कविता रची उसकी तुलना धनाग्र और ऋणाग्र के बीच बहती विद्युत धारा से की जा सकती है। हमारे यहाँ चरमपंथी मानसिकता के कारण कवि हमेशा ध्रुवत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करते रहे। भारतीय कविता काव्यात्मक ध्रुवण (poetic polarisation) के उदाहरणों से भरी पड़ी है। जगदीश चतुर्वेदी भी अपवाद नहीं। हाँ, यह जरूर है कि **"इतिहासहंता"** और विवेच्य कृति के पहले खंड तक अगर उनकी कविता का ध्रुवण ऋणाग्र के गिर्द होता रहा तो दूसरे खण्ड में धनाग्र के गिर्द हुआ यानी कि कवि ने जिस ध्रुवत्व को पहले हासिल किया था अब ठीक उसका विपरीत ध्रुवत्व प्राप्त किया। यहाँ तक कि दूसरे खण्ड की कुछ कविताओं में भी कवि युद्ध और शांति, प्रेम और घृणा, हिंसा और अहिंसा आदि विपरीत ध्रुवों के ध्रुवत्व प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है। दरअसल, पहले खंड और दूसरे खण्ड में दिखाई देने वाली दुनियाएं, दो विपरीत ध्रुवों की दुनियाएं हैं। यह विराट अन्तर कवि के जिस कायापलट अथवा काव्यात्मक रूपान्तरण (Poetic Metamorphosis) को रेखांकित करता है, वह कवि की प्रयोगधर्मिता और कवि में कविता के पुनर्जन्म की ओर संकेत करता है। कवि में, कविता दुबारा जन्म कम ही लेती है और जब लेती है तो जरूरी नहीं कि उसका दूसरा जन्म सार्थक भी हो।





विनोद शर्मा

सन् 1944 में शिमला में जन्म। मूलतः कवि। पिछले 30 वर्षों से अनेक छोटे बड़े पत्र-पत्रिकाओं व अखबारों में कविताएं प्रकाशित, अनेक काव्य-संकलनों में संकलित और पंजाबी, उर्दू, अंग्रेजी, गुजराती, कश्मीरी, बल्गारियाई तथा रूसी भाषाओं में अनूदित। कवि ने स्वयं भी अनेक विश्वविख्यात, लगभग 150 कवियों की, 250 कविताओं को हिन्दी में उल्था किया है। फ्रैन्ज़ काफ्का, एलेक्ज़ैण्डर सोल्झेनित्सिन और इलिंदा मार्कोवा की कहानियों का अनुवाद। कविता, कवितानुवाद, नोबेल पुरस्कार, फिल्म, मीडिया व विश्वविख्यात कवियों पर लेख तथा पुस्तक समीक्षाएं। किशोरों के लिए लेख, बाल कविताएं तथा यूरोप व एशिया के अनेक देशों की परी-कथाएं। रेडियो, टी.वी. सीरियलों व फिल्मों के लिए वार्ताएं, स्क्रिप्ट, गीत, संवाद, पटकथा—लेखन। बल्गारिया के संस्कृति मंत्रालय के निमंत्रण पर सन् 1987 में बल्गारिया की यात्रा।

साहित्यिक उपलब्धियां—

1. पुरस्कार—बाल साहित्य पुरस्कार (1991—92) और 1996-97 हिन्दी अकादमी, दिल्ली।
2. सम्मान—पेयो यावारोव पदक, राष्ट्रीय साहित्य संग्रहालय, बल्गारिया (1980)।
3. सम्मान—गोल्डन पेगॉसस, बल्गारियाई लेखक संघ (1987)।
4. सम्मान—राष्ट्रीय हिन्दी सेवी सहस्राब्दी सम्मान (2000), अंतरराष्ट्रीय विश्व शान्ति प्रबोधक महासंघ, दिल्ली।